नूपुर बँधे चरण

का०

गुलाब

परम आदरणीय श्री नन्दकुमार जी अवस्थी को
सादर

नथमल केडिया
८.१२.८०

स्कैन्ड/Scanned

नूपुर बध चरण

गुलाब खण्डेलवाल

कमल प्रकाशन
प्रतापगढ़

प्रकाशक :
कमल प्रकाशन
चौक, प्रतापगढ़
(अवध)

प्रथम संस्करण
१९७८

कापीराइट : लेखक

मूल्य : ८)

मुद्रक
बीना प्रिंटिंग प्रेस
कोटगंज, इलाहाबाद

प्रस्तावना

कवि श्री गुलाब खंडेलवाल द्वारा रचित 'नुपुर बंधे चरण' साहित्य-संसार के सम्मुख प्रस्तुत है। कवि के शब्दों में इन कविताओं का रचना-काल सन् १९४० से लेकर १९६० के मध्य है जबकि उसकी उम्र १६ साल से लेकर ३६ साल की रही थी। आज जब कवि ने जीवन के ५४ वर्ष पूर्ण कर लिये हैं और वह निरन्तर नयी-नयी विधाओं में उत्कृष्ट काव्य-सृजन कर माँ भारती के भंडार की अंजलि-अंजलिभर वृद्धि कर रहा है तब मन में यह स्वाभाविक ही कौतूहल हो सकता है कि कवि जब 'यौवन की पंखुरिया' खोल रहा था तब वह किस स्तर की काव्य रचना कर रहा था ओर उम्र के साथ-साथ उसका चिन्तन किन ऊँचाइयों को छू रहा था।

वैसे २० वर्ष की, सृजन-काल की अवधि, अपने में बहुत लम्बी अवधि है इस बीच कवि, सुख, दुःख, हर्ष, उल्लास, अपेक्षा-उपेक्षा, हास-रुदन और न जाने मन की किन-किन अनुभूतियों से प्रभावित हुआ है। सम्भव है कभी उसकी मनःस्थिति अपने किसी प्रिय के द्वारा उपेक्षित होने पर उद्वेलित हुई हो और कभी उसने स्वयं किसी की उपेक्षा की हो और पश्चाताप की मनःस्थिति में समय बिताया हो। यह मनुष्य स्वभाव की विचित्रता है परन्तु सत्य है कि एक ही व्यक्ति कभी प्रियतम तो कभी उसके ठीक विपरीत प्रियतमा की भूमिका निबाहता है। दीर्घ समय के अन्तराल-जनित मन की इन्हीं अज्ञात पर अलग अलग भूमिकाओं से अनुप्राणित, निःसृत काव्य जब हमारे सम्मुख होता तब सहसा यह भी विश्वास करने को जी नहीं चाहता कि ये कवितायें किसी एक ही व्यक्ति द्वारा रचित हो सकती है? इसीलिये इस तरह के काव्य-संग्रह की भूमिका लिखना अपने में दुस्तर कार्य है।

वैसे श्री गुलाब जी का काव्य पर श्लाघनीय अधिकार है। उन्होंने प्रस्तुत काव्य-पुस्तक में भी विविध प्रकार की विधाओं का सफल प्रयोग किया है। इनमें से कुछ विधायें अन्य भाषाओं में तो प्रतिष्ठित हैं पर इन्होंने प्रथम बार इनसे हिन्दी का अभिषेक किया है। जैसे 'कुम्हार-बाला के प्रति' सम्बोध-गीत जो अंग्रेजी में ODE के नाम से जाना जाता है तथा गाथा-काव्य (Lyrical Ballad) एवं प्रतीक काव्य (Allegary) जिनका प्रयोग क्रमशः 'जादू का देश' एवं 'मृगतृष्णा' नामक कविताओं में किया गया है। ये सब अंग्रेजी साहित्य की सुपरिचित विधायें हैं। इनके अतिरिक्त 'गड़ेरिये के गीत' और 'हवा का राजकुमार' जैसे काव्य-प्रयोग अपनी मौलिकता में अनूठे हैं और अन्य भाषाओं के साहित्य में भी ऐसे प्रयोग देखने में नहीं आते। यही नहीं, प्रस्तुत काव्य-पुस्तक में 'शकुंतला के प्रति' जैसे शोकगीत और 'परशुराम का पश्चाताप' जिसे कवि ने एकालाप का नाम दिया है और जो सहज आत्मीयतापूर्ण तथा स्वाभाविक बन पड़ा है, भी कवि की मौलिक सूझ-बूझ के परिचायक हैं।

पर जब हम सफल काव्य के सर्वांगीण पक्ष का विवेचन करते हैं तब हम न तो किसी खास विधा पर, न साहित्य की किसी जानी-मानी अथवा निर्धारित की गयी शैली पर मन को आधारित कर पाते हैं। और तो और, हम चमत्कारिक रूप से प्रयुक्त किये गये भारी-भरकम शब्दों पर भी उस काव्य का मूल्यांकन नहीं कर सकते। ऐसा काव्य, साहित्य रसिकों के लिये उस बारात के समान है जो बहुत तरह के ताम-झाम और शान-शौकत की सामग्री से तो भरपूर हो परन्तु परिणयाकांक्षी दुलहिन को पूरी बरात की अगवानी करने के बाद भी उसमें दुल्हा नहीं दिखायी दे। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी काव्य की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें रस की निष्पत्ति कितनी हुई है साथ ही उसमें सम्प्रेषणीयता कितनी है। सम्प्रेषणीयता ऐसी—जो सीधी पाठक के हृदय तक पहुँच जाय—लगे कि ये पंक्तियाँ मेरी, केवल मेरी अपनी अनुभूतियों का रूप-ग्रहण है और मैं स्वयं इन्हें इसी तरह कहना चाहता था। आइये हम उपर्युक्त विधाओं की कविताओं को इसी

भूमिका के अन्तर्गत विश्लेषित करें। सबसे पहले 'कुम्हार-वाला के प्रति' संबोध-गीत की एक बानगी देखिये—

यह डोली ससुराल जायेगा—इस पर तुझे बुलाया
जहाँ सास यह रूप देख, बाँटेगी धान सवाया
सो जाने पर गृह में सबके
आयेंगे जीवन - धन दुबके
तेरी कोमल बाहें
कितना भी वे चाहें
खड़ी मौन कोने में रहना छिपा प्रकम्पित काया
खोल न देना प्रथम-निशे तू गाँठ अधर-कलिका की

'एक कुम्हार-बाला के प्रति'

मैंने ऊपर लिखा न ! कवि उस समय यौवन की पंखुरियाँ खोल रहा था—इसलिये उपर्युक्त पंक्तियों में कितना रस-परिपाक हुआ है इसकी उचित मीमांस सहृदय पाठक ही कर पायेंगे। दूसरे प्रतीक-काव्य—'जादू का देश' की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

इधर प्रेम-वंचित अभागिनी
गातीं व्याकुल विरह-रागिनी
रात पिया बिन काल नागिनी
डँसने को आयी
दिवस बीतते काग उड़ाते
अश्व मदन के बंध तुड़ाते
छोड़ गये जो व्यथा छुड़ाते
बाँह पकड़ माई !

'जादू का देश'

एक सद्यः परिणीता अबोध बालिका, जिसकी उम्र यौवन की देहरी भी ांघ पायी हो, का पति यदि विदेश चला जाय और फिर घर आने का नाम न ले और उस स्त्री को आजीवन वैधव्य नहीं, सधवापन का जीवन ा पड़े—ऐसी स्त्री के हृदय में मच रहे हाहाकार की झलक उपर्युक्त पंक्तियाँ है। हमें यह न भूलना चाहिये कि कवि राजस्थान प्रदेश का है जिस प्रदेश ताब्दियों तक पुरुष पूरब के देशों की चाकरी पर चले जाते थे और स्त्रियाँ ह-वेदना में तपती रहती थीं। उपर्युक्त पंक्तियों में, अपनी आजीवन अतीव ना में भी अपने हृदय की बात कहने को वियोगिनी केवल अपनी माँ को ही ती है। यह बात कितनी स्वाभाविक है इसे कोई लड़की और उसकी ही समझ सकती है।

और अब मृगतृष्णा का एक चित्र देखिये—

भग्न कलश में झलकी छाया
पास खड़ी दो प्यासी काया
नयनों में नव मधु लहराया
आकुल यौवन का

मिले नयन बज उठी बाँसुरी
स्तर-स्तर स्वप्निल खुली पांखुरी
जागा उर में भाव माधुरी
कोमल स्पंदन का।

'मृगतृष्णा'

मिले नयन बज उठी बांसुरी—काव्य-संसार के सारे सहृदय और रसिक ठक इस पंक्ति के मनोहारी सत्य से परिचित हैं। परिचित ही नहीं वे इसे ने मन की न जाने कितनी तहों के भीतर सहेजे हुए हैं, कवि तो केवल अपने व्य से पाठकों की इस सुप्त भावना को जगा देता है। और तब उनके सम्मुख

एक वहुत ही मधुर, पर बीता हुआ, समय अपने हँसते हुए मुखड़े सहित साकार हो उठता है और यहीं कवि और उसके पाठकों की अनुभूति एकाकार हो उठती है और काव्य को सफलता का प्रमाण-पत्र दे देती है।

वैसे 'नूपुर बँधे चरण' की वहुत सी कविताओं में रस-परिपाक समूचे सौन्दर्य-बोध के साथ दृष्टि-साक्ष्य हो गया है। बानगी के रूप में कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करने का लोभ सँवरण नहीं कर पा रहा हूँ हालाकि सारी इस तरह की पंक्तियाँ देने का मतलब पुस्तक की वहुत सी पंक्तियों को उद्धृत करना होगा।

'काले घने केश बिखरे थे गोरे भुजमूलों पर
नीले घन ज्यों जल भरते हो कंचन के झरनों से'
'गोल-गाल गोरी बाँहें कुछ मिली हुई थीं ऐसे
पत्नी का चुम्बन करता हो ज्यों ऐरावत जल में'
'गंधक के निर्झर सी थी वह कोमल अंगोंवाली
जिसके आलिंगन में होती उष्ण रुधिर नस-जाली
स्पर्श अरुण अधरों का हलका मदिरा-सा उत्तेजक
सुलगा देती आग हृदय में, श्वास-सुरभि मतवाली'
'सहसा उठी उमंग-सदृश वह हीरक-सिंहासन से
ज्यों उठती अरुणाभा मुख पर प्रेमभरे चुम्बन से'

उपर्युक्त अभिव्यक्तियाँ प्रमाणित करती हैं कि कवि प्रौढ़ एवं गहन सौन्दर्य को देखने के लिए मानस के उस लोक में उतर गया है जहाँ विश्लेषण की सारी प्रक्रिया सहज भावना के साथ उमड़ पड़ती है और कवि तब स्वतः हृत्कम्पित छन्दों के साथ संध्या के चरणों में भाषा के नूपुर पहना देता है—

ले तारों के स्वर्णिम प्याले कर में
बाँट रही वह दूर-दूर अम्बर में

लो खाली हो गया लुढ़क मधु का घट
फैली अरुण बारुणी शून्य डगर में
फिरते चारों ओर मधुप-पक्षी ढ़ूढ़ते शरण
नूपुर बंधे चरण संध्या के, नूपुर वंधे चरण

और तब वहीं से कवि के मानस की रचना-प्रक्रिया एक गम्भीर अर्थवत्ता को शब्दों में समेटे प्रसारित होने लगती है और तभी सृजनात्मक कल्पना का स्वरूप, प्रयोजन की तथ्यात्मकता और विचारों की सुघड़ता पाठक के सामने भी एक सुन्दर प्रश्नचिह्न अंकित करती है—

इस नीली गिरि घाटी के उस पार
क्या कोई छवि का सागर लहराता ?

जीवन के बाद 'क्या ? कहाँ ?' ये प्रश्न भारतीय चिन्तन के मूल प्रश्न हैं। प्रायः सभी दार्शनिक एवं चिन्तकों ने इन प्रश्नों का अपने ढंग से समाधान उपस्थित किया है पर ये प्रश्न अनुत्तरित हैं। नूपुर बँधे चरण का कवि भी अपने यौवन के उषाकाल में जब—

रूप-राग के फाग घने उड़ते
नयन कोर मुड़ते
प्याले जुड़ते
ज्वार-वासना, बंध निखिल तुड़ते
मैं मदिरा में मादकता घोल रहा हूँ

की स्थिति में था तब भी इस प्रश्न का उहापोह उसके मानस को मथ रहा था। दूसरे ही क्षण वह कह उठा है—

सम्मुख अतल महोदधि-सा अज्ञात
मैं-तट पर तमसात्

जग के, आधी रात
किससे पूछूँ चिर रहस्य की बात ?
मैं भावों से गहराई तोल रहा हूँ
मैं यौवन की पंखुरियाँ खोल रहा हूँ

और यही भावों से गहराई तौलना कवि गुलाब की अपनी विशिष्टता है—तभी वह परमसत्ता के साथ अपने एकात्म की बात करता है—'तुम मुझमें, मैं तुममें दोनों एक देह, मन प्राण-अब कैसा व्यवधान ?' और तब उसके लिए उस परम ब्रह्म की सारी सत्ता एक निर्मल प्रकाश से उद्दीप्त हो उठती है—

कहाँ द्वैत, दुःख द्वंद है
सकल अमृतमय छंद है
बाधा कही न बंध है
आत्मिक ज्योति अमंद है
माया तो अज्ञान की

वह अपने साथ कवि चंडीदास के शब्दों में सृष्टि के सबसे विशिष्ट प्राणी (सवार ऊपर मानुष सत्य तार ऊपर नाँहि) को निम्नलिखित पंक्तियों में उस परम ब्रह्म के साथ एकाकार कर देता है—

तुम अनादि के छंद हो
लघु हो जब तक बंद हो
महाकाश निर्द्वंद हो
शुद्ध सच्चिदानंद हो
तुम प्रतिमा भगवान की

यह वह समय था जब कवि की अन्तश्चेतना भारत के महान संत विनोवा भावे से जुड़ी हुई थी। संत का भूदान-प्राप्ति के सिलसिले में उनके शहर गया में पदार्पण हुआ था और उस समय कवि की भावनायें संत के स्वागत और सान्निध्यजनित भावावेश में, शब्दों के रूप में उमड़ पड़ी थी—

निर्मल हो लो उज्बल हो लो करुणा की धारा में
सीता-सी आत्मा वंदी क्यों कंचन की कारा में
मानवता का महापर्व यह सर्व त्याग की वेला
वामन आ पहुँचा है फिर से बलि के भंडारा में
कभी-कभी होता है ऐसा—दाता हाथ विछावे

गाँव-गाँव में गाता कोई बापू का सन्देश चला
छ्यासठ कोटि पगों से उठकर यह लो, सारा देश चला
कोटि-कोटि हलधर के जोड़े चले नील घन-माला संग
भूमि चली, नभ चला, चराचर चले, स्वयं सर्वेश चला
सत्य-अहिंसा-साधक जग में, किसने कहा, अकेला है !

उपर्युक्त कविताएँ चाहे कितनी ही निर्मल चित्त और सात्विक विचारों
ओतप्रोत हों तथा साहित्य-आकलन की दृष्टि से भी कितनी ही वजनदार ह
पर रस-वर्षण की दृष्टि से ज्यादा अच्छा होता कि ये ५-६ कविताएँ इस पुस्त
में सम्मिलित नहीं करके अलग पुस्तिका के रूप में प्रकाशित होतीं—क्योंकि
कवि का मूल कार्यक्षेत्र शुद्ध साहित्य का धरातल मानता हूँ जहाँ केवल ए
नारी है और है एक ही पुरुष—वह नारी कभी राधा के रूप में आती है त
कभी सीता के रूप में। वह कभी यशोदा के रूप में आती है कभी ए
साधारण गृहस्थ नारी के रूप में और वह पुरुष भी कभी कृष्ण होता
तो कभी राम—कभी तथागत हो जाता है और कभी एक साधार
गृहस्थ। वह नारी जैसे धुरी पर वैठी हुई शत-शत रश्मियों को विकीर्ण-
करती हुई पुरुष के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है औ
पुरुष उसके प्रेम, विरह स्मिति, हास, उदासी, रुदन, चांचल्य, गांभीर्य, उस
सारी आकांक्षाओं एवं सर्वस्व समर्पण की भावनाओं को अपनी पुरुषोचित गरिम
से सहलाता दिखाई देता हैं। कवि का कार्य उनके इस कार्य को भाषा का परिधा
पहना देना भर है। अक्सर सर्वस्व सर्मापित नारी के प्रति पुरुष का उपेक्षा-भा

फिर वह चाहे कितने ही महान कर्तव्य बोध के नाम पर ही क्यों न किया गया हो—नारी को दुःखदायक और असह्य मालूम हुआ है और उसने उसका प्रतिरोध अक्सर अपनी मूक भाषा और उदासी भरी आँखों से अथवा टप-टप गिरते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रों से किया है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि उसकी आँखों से तो अश्रु गिर रहे हैं और चेहरा हँसने का कर्तव्य निबाह रहा है। अन्तरतम तक बेधने वाला कितना गहरा प्रतिरोध है यह ? पर कौन दे इसको वाणी ? केवल कवि ही, जो अपने अन्तर में उसकी वेदना को भोगता है उसके प्रति किये गये अन्याय को वाणी देता है। और मेरी सामान्य दृष्टि में प्रस्तुत पुस्तक का कवि इस कार्य में सर्वाधिक सफल हुआ है। मैं यह भी मानता हूँ कि किसी कवि की केवल एक या दो पंक्तियाँ इतनी वजनदार बन जाती हैं कि वे उसके समूचे साहित्य से भारी पड़ती है। कभी बचपन में पढ़ी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियाँ—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी
आंचल में है दूध और आँखों में पानी

आज भी हम कहाँ भूल पाते हैं ? पर आज मन बहुत तृप्त है कि अनेक वर्षों बाद नारी के, विशेषकर भारतीय नारी के जीवन को दर्शाने वाली निम्नलिखित पंक्ति पढ़ने का सुअवसर मिला—

'अश्रु कण झरते रहे प्रिय तड़ित सी हँसती रही तुम'

मैं इस पंक्ति को बार-बार पढ़ता हूँ और मेरा मन इस पंक्ति में से झांक रहे पूरे चित्र की कल्पना कर संवेदना और सहानुभूति से भर उठता है। संवेदना नारी के साथ—सह अनुभूति कवि के साथ। पर जब मैं और थोड़ा गहरे डूबकर कविताओं को पढ़ता हूँ तब मुझे लगता है कि कवि की अनुभूति एक नहीं है और नारी भी उससे कोई विलग सत्ता नहीं है—हो सकता है अपनी आत्मा को ही वह नारी का सम्बोधन दे रहा हो—

लौट गये करुणामय आकर द्वार, चूक-क्षमा माँगी नहीं,
सारी रात गँवादी अरो गँवार, पल भर को जागी नहीं—

और वह विषाद और पश्चातापजनित भाषा में कह उठता है—

जाग बिता देती अब सारी रात
फिर जाता आ आकर मलिन प्रभात
अब क्या हो वह बीत चुकी जो बात
कभी प्यार करने फिर उसी प्रकार
लौटे अनुरागी नहीं

और ये पंक्तियाँ पढ़ते समय न मालूम कैसे मैं कवि के पास जाकर खड़ा हो जाता हूँ और धीरे-धीरे अपने अस्तित्व को कवि के साथ आत्मसात् करता हुआ समवेत स्वर में ये पंक्तियाँ दोहराने लगता हूँ। मुझे लगता है कि हम सब एक न एक दिन 'सारी रात गँवा दी अरी गँवार, पल भर को जागी नहीं—लौट गये करुणामय आकर द्वार' वाली मनःस्थिति में से गुजरेंगे और काव्य की अर्थवत्ता का अनुभव करेंगे।

हिन्दी-संसार गुलाब जी से पूर्व परिचित है। पिछले चार दशकों से अनवरत वे साहित्य साधना कर रहे हैं और आज भी उनकी कलमप्रिया उनका साथ छोड़ने को तैयार नहीं है। ऐसे कवि-पुरुष की पुस्तक की भूमिका लिखना निश्चय ही मेरे लिए गर्व की वस्तु है और साहित्य-मनीषियों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे इस भूमिका को एक सहृदय पाठक के विचारों की अभिव्यक्ति से ज्यादा महत्व न दें। ग्रन्थ आपके हाथ में है, आशा है सुधीजनों से यह ग्रन्थ समादृत होगा।

—नथमल केडिया

कलकत्ता

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक मेरे कुछ नये काव्य-प्रयोगों का संग्रह है। मुझे आशा है किशोर मन की रोमांटिक कल्पनाओं से लेकर जीवन की प्रौढ़तम अनुभूतियों की ये रचनायें सभी अवस्था के पाठकों को रुचिकर लगेंगी। इनका रचनाकाल सन् १९४० से लेकर सन् १९६० तक फैला है अर्थात् मेरे कवि-जीवन की १६ वर्ष की अवस्था से लेकर करीब ३५-३६ वर्ष की अवस्था तक की अनुभूतियाँ इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। कविता की दृष्टि से यह जीवन का श्रेष्ठतम काल माना गया है। मेरा प्रारम्भ से ही यह प्रयास रहा है कि वादों के झमेले से दूर रहकर, हिंदी काव्य को नयी-नयी विधाओं से सजाऊँ और उसमें स्वस्थ स्वच्छंदतावाद की स्थापना करूँ। यह संग्रह मेरे प्रयोगों की एक छोटी-सी झांकी है।

मुझे आशा है सभी अवस्था और सभी रुचियों के पाठकों को इन रचनाओं में अपनी अनुभूतियों का प्रतिबिंब मिल सकेगा जैसा समय-समय पर एक भावुक हृदय ने देखा और अनुभव किया है।

—गुलाब

परम स्नेहमयी बहन
श्रीमती आशा देवी मिश्रा
को

आरोह

क्रम	रचना काल	पृष्ठ
१. नूपुर बंधे चरण संध्या के, नूपुर बंधे चरण	१९४०	९
२. एक कुम्हार-बाला के प्रति (संबोध-गीत)	१९४५	११
३. हवा का राजकुमार और रात की रानी (प्रतीक-काव्य)	१९४३	१५
४. मृगतृष्णा (गाथाकाव्य)	१९४१	३४
५. जादू का देश "	१९४१	४६
६. गड़ेरिये के गीत :—	१९४३-४४	
(क) पर्वत-घाटी पार वे गये		६५
(ख) इस घाटी का अंत कहाँ है		६५
(ग) किसके साथ विहार करूँ मैं		६६
(घ) सपने में करता माया-सा		६६
(ङ) कौन तुम पूर्व क्षितिज के पार ?		६७
(च) नवोढ़ा-सी तुम कौन गगन में ?		६७
(छ) चली गयी वे भेंड़े किस निर्जन में ?		६८
(ज) संध्या की पीली किरणों पर चढ़कर		६९
(झ) इस नीली गिरि-घाटी के उस पार		७०
(ञ) यह हिरण्यमय लोक कहाँ था ?		७१
(ट) पंथ अगम, निशि मारी		७२
(ठ) देख रहा मैं सम्मुख स्मृति-से धुंधले नील गगन को		७२

क्रम — रचना काल — पृष्ठ

७. गीत गुच्छ :—

(क) मैं यौवन की पंखुरियाँ खोल रहा हूँ १९४१ ७४
(ख) स्वर-वसंत फूटे १९४६ ७६
(ग) लौट गये करुणामय आ कर द्वार १९४१ ७७
(घ) रोते-रोते चुका नयन का पानी १९४२ ७९
(ङ) जागरिता १९४२ ८०
(च) तुम्हारे रूप-मधुवन में समीरन मैं बनूं तो क्या ! १९४६ ८२
(छ) गुंफन १९४६ ८४
(ज) गीत बनकर ही अधर के पास आना चाहता हूँ १९४८ ८६
(झ) अश्रु-कण झरते रहे प्रिय ! तड़ित-सी हँसती रही तुम १९४६ ८८
(ञ) स्मिति से रंजित अंजित चपल-नयन १९४४ ९०
(ट) मेरा लक्ष्य खो गया साथी १९५७ ९२

८. शोक-गीत :—

(क) आज जर्जर तरु-शाखा टूटी १९४१ ९४
(ख) अभी बज रहे थे, अब नीरव हैं वीणा के तार १९४३ ९४
(ग) शकुंतला के प्रति १९४८ ९७
(घ) तुम्हीं पवन में आज प्रवाहित १९४८ ९८
(ङ) मेरा हृदय कुलिश-कठोर १९४८ ९८
(च) शकुंतला, चार दिनों की चाँदनी १९४८ ९९
(छ) अंतर में तू आयो १९४८ १००
(ज) अब कैसा व्यवधान ! १९४८ १०१

क्रम	रचना काल	पृष्ठ
९. श्रद्धा-सुमन :—		
(क) हवा और पानी-सी धरती	१९५१	१०२
(ख) आज अणु-अणु सौभाग्यभरा	१९५३	१०४
(ग) सत्य-अहिंसा शस्त्र न छूटे	१९५५	१०६
(घ) अंबर तक जयघोष छा रहा	१९५७	१०८
(ङ) सबल की न धनवान की	१९६१	११०
१०. पानी बरसकर खुल गया (प्रगीत)	१९४१	११४
११ परशुराम का पश्चाताप एकालाप)	१९४३	१२१
१२. स्मृति की रेखायें : —		
(क) गीत में भर दो मेरा जीवन	१९५१	१३१
(ख) प्रेम की इस मोहक नगरी में	१९४३	१३२
(ग) मैं न रहूँगा यहाँ	१९४३	१३३
(घ) गाता था कोई विरही वन-वन यों	१९४४	१३५
(ङ) जल-समाधि	१९४६	१३७
(च) तम से बँधा प्रकाश मृत्यु से जीवन,	१९४६	१३८
(छ) कौन-सी थी दृष्टि वह	१९४८	१४०
(ज) जब तुम मुझे देख लेती हो	१९४६	१४१
(झ) पढ़ मेरी कविता भर आये	१९४७	१४२
(ञ) मेरा अंत न होगा	१९६१	१४३

आवरण चित्र : श्रीमती क्षमादेवी उपाध्याय
प्रतापगढ़

नूपुर बँधे चरण,
संध्या के, नूपुर बँधे चरण

सागर की लहरों पर थिरक-थिरककर
नाच रही है किरण-बालिका थर-थर
पिछल रहीं जल पर चंचल पगतलियां,
मुक्त पवन में उड़ता अंचल फर-फर
श्याम अलक, पलकें मद-लोहित, मुख छवि पीत-वरण
संध्या के नूपुर बँधे चरण

ले तारों के स्वर्णिम प्याले कर में
बांट रही वह दूर-दूर अंबर में
लो खाली हो गया लुढ़क मधु का घट
फैली अरुण वारुणी शून्य डगर में
फिरते चारों ओर मधुप-पक्षी ढूंढ़ते शरण
संध्या के, नूपुर बंधे चरण

टिकीं सदा यौवन-रँगरलियां किनकी
याद शेष है अब केवल उस दिन की
सिसक रही तम-गुहा, धरा-अंचल में
कभी व्योम पर नाची प्रभुता जिनकी
दशों दिशाओं में निर्भय तम-शिशु करते विचरण
संध्या के, नूपुर बंधे चरण

एक कुम्हार-बाला के प्रति

मिट्टी का आंगन, मिट्टी का घर, मिट्टी की चाकी
मिट्टी सनी कर्मरत करतलियां, मेंहदीं से आंको
अभी पूर्ण युवती कहलाने में कुछ दिन हैं बाकी
क्या गढ़ती है मिट्टी से तू ओ बालिके ! कला की

किसकी आकृति इन पिंडों से समुद निकाल रही है
मधुर स्पर्श से जड़ में भी तू जीवन डाल रही है
रुक्ष अलक पलकों पर बारंबार सँभाल रही है
श्रमकणमय भौं, झेल आह ! क्यों ये जंजाल रही है

अरी ! कुमारी-हृदय द्रवित चिर
मोम-सदृश रहता है अस्थिर
स्नेह - सरोवर ढलमल
बहे किधर जाने कल !

बिना शब्द की तान, तरी यह जिसमें पाल नहीं है
हृदय-भित्ति पर कल खिच आये जाने किसकी झाँकी ?
जाने किसकी बाँह बने कल जयमाला ग्रीवा की
मिट्टी का आंगन, मिट्टी का घर, मिट्टी की चाकी

किस राजा का कुंवर, अरी ! यह ? कौन देश से आया ?
चढ़ा अश्व पर तूने जिसका तिरछा मुकुट बनाया
बाने लाल, जड़ाऊं कटि में असि, पग बिना सजाया
क्या यह क्षीण मूँछवाला गोरा पति तुझको भाया ?

या वह ऊंचा बाँध मुरेठा
सैनिक जो सित हय पर बैठा
अथवा जो पलड़ों पर
तौल रहा जो झुककर

किंवा इस धीवर पर तूने अपना हृदय लुटाया ?
या रुचती तुझको उस तरुण खेतिहर की छवि बाँकी
वैसा एक लजाया उस दिन सुनकर बातें माँ की
मिट्टी का आंगन, मिट्टी का घर, मिट्टी की चाकी

यह काली गैया बछड़े पर झुकी पूंछ टेढ़ी कर
क्या मातृत्व इसी-सा तुझ में घुलता रहता निःस्वर
सिह बनाते समय न काँपी गोल कलाई थरथर
कुमारिके ! शिव-शिवा ढाल तू गई न लज्जा से मर

श्याम कृष्ण-सँग राधा गोरी
कहते तेरे मन की चोरी
भुज - मृणाल उठते यों
ज्यों नृत्य में सृजन हो

यौवन की अभिव्यक्ति गुलाई देती घट के मुख पर
नृत्य देखता ज्यों मैं झुकती जब तू तिरछी-बाँकी
चल उँगलियाँ, बाँह शतमुद्रा, चंचल भौंह, बुलाकी
मिट्टी का आंगन, मिट्टी का घर, मिट्टी की चाकी

अँगड़ाई भरती तू, हँसता वह बैलों का स्वामी
सिर धुन दाढ़ीवाला धुनिया भरता छवि की हामी
क्रुद्ध देख शुक नासा, मछली नयनों की अनुगामी
यह युवती ईर्ष्याकुल, कूयें में गिरने से थामी

हाट स्तब्ध है सारी
रूप-विकल नर-नारी
तकते सांसें खींचे
मोची नतमुख नीचे

रख पालकी कहार खड़े वे उठा पलक बादामी
चरती गाय घाँस यह अब तक नहीं किसी ने हाँकी
मान गया मैं जादू करती चितवन सुंदरता की
मिट्टी का आंगन, मिट्टी का घर, मिट्टी की चाकी

कक्ष-द्वार पर लंबग्रीव यह कैसा हंस बनाया !
दमयंती का नाटक तुझको किसने भला सुनाया
यह डोली, ससुराल जायगा इस पर तुझे बुलाया
जहां सास यह रूप देख बाँटेगी धान सवाया

सो जाने पर गृह में सब के
आयेंगे जीवन-धन दुबके
तेरी कोमल बाँहें
कितना भी वे चाहें

खड़ी मौन कोने में रहना छिपा प्रकंपित काया
खोल न देना प्रथम-निशे तू गाँठ अधर-कलिका की
फिर न लौटती री ! लुट जाती निधि जो कुमारिका की
मिट्टी का आंगन, मिट्टी का घर, मिट्टी की चाकी

हवा का राजकुमार और रात की रानी

हरे धान की बाँधे कँलगी, बना छबीला बांका
खेत-खेत उड़ता फिरता था राजकुमार हवा का
हरे बाँस की बंसी मधुर बजाता वह चलता था,
दहनी मुट्ठी में ले कर टहनी की हरी पताका

सात सगी बहनों का प्यारा भाई था वह कैसे !
सात तारिकाओं के दल में चाँद सुशोभित जैसे
नारंगियां, बैगनी, सब्जइ, नाम पड़े थे उनके
सातों बहने सात तरह के रँग की थी कुछ ऐसे

मेंहदी की पत्तियाँ कलाई में बहनों ने बांधी
चला लौटता वीर अचल-शिखरों पर जैसे आँधी
मानसरोवर की शैया पर दुग्ध-धवल लहरों को
ओढ़ थकित सोया, कोलाहल ने ज्यों चुप्पी साधी

बाल अरुण की तरुण किरण जब पलक-पुटों में आयीं
विहँस उठा अधरों में, अलसित-सा लेकर अँगड़ाई
चमरी ने आ चँवर डुलाये देख चिनगियां जिनमें
चीड़-वनों में जा मेघों से जलती आग बुझायी

आया जब चिकने फैले मरुथल की भूरी भू पर
देखा विस्मित हो-हो, दांये - बाँये, नीचे - ऊपर,
पर न मिला वह दानव शस्त्रों की सब नीति-कुशलता
विजय नहीं पा सकती थी जिसके अद्‌भुत जादू पर

कहती जिसकी कथा ऊंघते शिशु को थपकी देकर
वृद्धायें नित, बीच-बीच में, खुद भी झपकी लेकर
दूध छोड़कर रूठ-रूठ चलते आँगन में शिशु को
मांयें लौटातीं जिसके आने की भपकी देकर

वह अनदेखा शत्रु कहाँ जिसकी मोटी चोटी में
गुंफित है नीली मणियां ज्यों नीले कमल नदी में
मर जायेंगी बहनें दुख से, यदि न समय पर लौटा
एक खजूर विटप पर चढ़कर लगा सोचने जी में

एक पहाड़ी झील मुकुर-सी सम्मुख पड़ी हुई थी
जिसमें चील-खचित नीली नभ-छाया गड़ी हुई थी
चारो ओर घाटियों में दुपहर का सन्नाटा था
खंबों से लम्बे खजूर की पाँते खड़ी हुई थीं

तिनका एक कटी उँगली-सा दक्षिण दिशि में फहरा
देखा बढ़कर गलित लौह-सा सिंधु रहा था लहरा
संध्या को जिन पर सोने की झालर टँगती होगी
अजगर-सी दो गिरिमालाये देती थीं ज्यों पहरा

वहाँ बँधा था एक घने भूरे बादल का घोड़ा
राजकुमार चढ़ा झट उस पर ले बिजली का कोड़ा
लहरों के केशर लहराता बढ़ा हिनहिनाता वह,
धरती को मारता कुलांचे, आसमान पर दौड़ा

नभ का ऊँचापन जल की गहराई नाप चला वह
चाबुक तो थी एक इशारा, अपने आप चला वह
मुख में मोती भरे झाग-से दरियाई घोड़े-सा,
बुदबुद के मिटते फूलों पर रखता टाप चला वह

नीलम की घाटियाँ मिलीं, जिनके मणि-गृह-मय तल में
वरुणलोक की सुंदरियाँ, करतीं विहार थीं जल में
युवक वहाँ के ललचाये फिरते थे बाहर-बाहर,
मधुपों से, पुर-हाट दिख पड़ी लहरों की झलमल में,

राजमहल प्राचीर सम्मुन्नत बने पूर्ण मरकत के
मोती की खेती होती थी अंचल में पर्वत के
भोजन की रंगीन मछलियां जगह-जगह, बिकती थीं
सघन पथों पर स्वर्ण कलश मंडित थे द्वार रजत के

मैदानों में क्रीड़ित थे शिशु चढ़ जहाज पर डूबे
तिरते जिनके बीच नाविकों के शिर जैसे तूंबे
शबूकों में कंबु-ग्रीव बालायें जंबुक-भच्क्षित,
जिनके हीरक-दृग थे प्रिय की राह देखते ऊबे

आगे मिली गुफा गहरी जिसकी बाहरी शिला पर
वंदी सिंह-सदृश पछाड़ खा रोता था रत्नाकर
भीतर चंद्रकांत मणियाँ थीं जड़ी हरित भीतों पर
जो दिन में प्रकाश, निशि में शीतलता की थीं निर्झर

छोड़ अश्व को बढ़ा वीर मन में यह आशा लेकर
शायद इधर गया हो वह दानव निज नौका खेकर,
जगह जगह, उसकी साँसों से पत्थर छिले पड़े थे,
सागर ने पहुनाई की थी थाल अमृत का देकर

बड़े बड़े नींबू से पीले, लाल हजारों हीरे
छत से लटके मिले हवा में हिलते धीरे-धीरे
ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा गुफा का हुआ मार्ग भी सँकड़ा
अड़े सामने चंदन के शहतीर तुरत के चीरे

गुफा बीच सरि बढ़ती थी ज्यों निशि में पुच्छल तारा
अंधकार को भेद चली थी या प्रकाश की धारा
एक हरित मछली की नौका राजकुँवर खेता था,
जिसकी पाँखों की चपेट से बिखर रहा था पारा

जिनकी मणियाँ लहरों के नर्तन में चमक रही थीं
कस्तूरी-सौरभ से वे दीवाले गमक रही थीं
थे मृदंग गुंजित, वीणा की सम पर झम से होती,
किणण किंकिणी, रुनझुन-रुनझुन पायल झमक रही थीं

मुड़ी हथेली फैला कहती, 'प्यार लुट रहा ऐसे'
नाच रही हो मस्त ऊर्वशी इंद्र-सभा में जैसे
शीश हिलाती, पीछे झुकती, सुरधनु-सी बांहों में,
भौं चमका, उन्मत्त बनाती, भाग चली ज्यों भय से

वंदी सहसा खिलखिल ध्वनि से आंगन भर देती-सी
सहमति में लज्जारुण आनन अवनत कर लेती-सी
नर्तन की लीलायें स्वर में चित्रित लहराती थीं,
आगे नाव लिये जाती थी आप लहर खेती-सी

आधा अंग मत्स्य का कोमल लाल, बैंगनी, पीला
कटि से ऊपर नारी का तन, सुंदर, सहज, लचीला
शत-शत गुहा-वासिनी परियां जल से निकल-निकलकर
देख रही थीं अपने घर में आज नयी ही लीला

कोई कोई छवि से मोहित निकट नाव के खिंच आ
उझक चूम लेतीं कुमार का अरुण अधर-पुट निचला
सिंह-सदृश प्राचीन कला के युगल स्फटिक-स्तंभों पर
टिका हुआ आ गया गुफा का रजत-द्वार भी बिचला

आगे विस्तृत उपवन-सा था झिलमिल मृदु लहरों में
जैसे तट की तरु मालायें बिंबित हों नहरों में
रंग-विरंगे फूल हजारों झलमल झूल रहे थे,
जुगनू से ज्योतित, जैसे दीपावलि हो शहरों में

झाड़ और फानूस सदृश घड़ियाल तले ही सिमटे
वृहत द्वीप से जगह-जगह बिच्छू थे जल पर चिपटे
हाथी के पैरों-से मोटे चंदन के खंभों में
सिक्कड़ से चमकीले, काले, जल-भुजंग थे लिपटे

थे प्रवाल-शाखों पर लटके जलपरियों के लत्ते
बीच-बीच में टंगे हुये ज्यों मधुमक्खी के छत्ते
रत्न-जड़ित लतिकायें, तरु, नीलम जल में झलमल थे,
ऊपर - ऊपर फूल खिले थे, नीचे - नीचे पत्ते

मध्य भाग में उपवन के वह राजभवन था ऊँचा
नीलम की ईंटों से हो जो विरचित हुआ समूचा
विस्तृत कक्षों से होता, चढ़ता मणि-सोपानो पर
राजकुमार सभा के सज्जित द्वार-निकट आ पहुँचा

तप्त कनक की पीटीं भीतें, गेरु घुला ज्यों जल में
जल न रही थी राज-सभा झलमल हो अग्नि तरल में
स्तब्ध कुमार चकित हो सम्मुख देख रहा था ठिठका
जल-जीवों की सभा जुड़ी हो जैसे सागर-तल में

दीप-शिखाओं से बिंबित छत, जगमग थी सोने-सी
गेंदा के फूलों से पूरित नीलम के दोने-सी
नाच रही थी एक अप्सरा चंचरीक-सी जिसमें,
नयनों के कोने से करती कुछ जादू-टोने-सी

मखमल की कालीनों पर बिखरीं थीं मौक्तिक-माला
हरे घास की बाली पर ज्यों पड़ा हुआ हो पाला
जगमग नीलम के खंभों में नर्तित थी वह ऐसे,
नील नीरदों में ज्यों नर्तन करती विद्युतबाला

सूखी पाटल-पंखुरियों-से थे प्रवाल-कण फैले
जो पगतलियों की लाली में लगते थे मटमैले
था मयूर-आसन पन्ने का एक ओर ऊँचा-सा,
जिसके दोनों ओर झुके थे काले नाग विषैले

और उसी सिहासन पर ही राज-पुत्र ने देखा
(झलक उठी थी मुख पर उसके भय की अस्फुट रेखा)
अंधगुफा का दानव निज पुत्री के सँग बैठा था,
हिम-गिरि-सा, अंकित हो जिसमें द्वाभा की विधु-लेखा

लहराती थी उजली दाढ़ी वन की उपत्यका-सी
थी ललाट पर दो रेखायें, मूर्तिमती जड़ता-सी
सांध्य-गगन सी धूसर आँखें धुँधले तारों वाली,
वट-शाखाओं सी थी जिनमें डोरों की नक्कासी

वक्ष-कपाट भरी सरिता के पाट-सदृश थे चौड़े
तट के जड़ पीपल-सी बाँहें, रक्त न जिनमें दौड़े
कभी नृत्य के सम पर चरण-अँगूठा जो उठ गिरता
ध्वनि होती थी एक साथ ज्यों गिरे हजार हथौड़े

दोनों ओर सभासद बैठे ले कर बर्छी-भाला
क्रमशः छोटे होते जैसे गिरि-शिखरों की माला
रावण की ही राज-सभा ज्यों सजी त्रिकूट-शिखर पर,
सूर्य, चंद्र, तारे जल-जलकर करते थे उजियाला

राजकुमारी सजी रेशमी पट के आवरणों से
चरण-पीठिका पर लिखती थी कुछ अरुणिम चरणों से
काले, घने केश बिखरे थे गोरे भुजमूलों पर
नीले घन ज्यों जल भरते हों कंचन के झरनों से

गंधक के निर्झर-सी थी वह कोमल अंगोंवाली
जिसके आलिंगन में होती ऊष्ण रुधिर-नस-जाली
स्पर्श अरुण अधरों का हल्का मदिरा-सा उत्तेजक
सुलगा देती आग हृदय में, स्वास-सुरभि मतवाली

कंपित वक्ष प्रताड़ित करती उड़-उड़ साड़ी झीनी
उड़ती चारों ओर सुगंधित रसफुहार थी भीनी
देह-लता दंशित न हुई थी अभी कुटिल भ्रमरों से
सहज अछूता था यौवन-मधु, अधरों की रंगीनी

देख रहा था राजकुंवर चुप खड़ा मुग्ध कोने में
आंखें मिली परस्पर सहसा ज्यों सुगंध सोने में
प्रतिबिंबित थीं युगल पुतलियाँ, मुख पर लाली दौड़ी,
कितनी देर लगा करती है भला प्रेम होने में !

भौहों में झुक मान कर लिया, पलकों में झुक बोली
शलभों के आतुर चुंबन में दीप - शिखा - सी डोली
उद्वेलित उर, झूली तन्मयता के मृदु झूले पर
दूर-दूर से प्रथम मिलन की सारी बातें हो लीं

भोली पुतली पूछ रही थी कुछ नीले नयनों में,
जैसे श्याम मधुप विस्मित हो नील कमल-अयनों में
स्निग्ध दुग्ध-धारा-सी चितवन मुड़ी न मोड़े से भी
बतलाते थे चकित सभासद आपस में सैनो में

सहसा उठी उमंग सदृश वह हीरक-सिंहासन से
ज्यों उठती अरुणाभा मुख पर प्रेमभरे चुंबन से
मिलनातुर उर की धड़कन-सी आतुरता से चलकर
आयी प्रिय के निकट, रोष ज्यों अति दृढ़ भुज-बंधन से

ठिठक तनिक जैसे अभिलाषा असफलता के भय में
लज्जित होती नयी वधू ज्यों प्रणय-परिचय में
पहिना दी बढ़ कर कुमार को उसने निज वरमाला
नखत-हार ज्यों ऊषा पिन्हाती रवि को अरुणोदय में

शीश छिपा था वक्ष-बीच, ग्रीवा में लिपटी बाँहें
जैसे मधुर मिलन में प्रेमी दूर न होना चाहे
हृदय धड़कता था, तनु-लतिका रह-रह काँप रही थी
गर्म-गर्म आँसू कढ़ते थे, ठंडी-ठंडी आहें

मधुर गंध की लपटें उठतीं घुली-मिली साँसों से
अधर पी रहे थे अधरों को झुक-झुक कर प्यासों-से
मृदुल मोम की पुतली-सी वह आलिगन में घुलती
कितना सुख संग्रह कर पाती कंपित भुजपाशों से

क्रुद्ध उठा दानव कर मलता मानो यह सपना था
कढ़ती ज्वाला-लपटें दृग से, भौं का धनुष तना था
थरथर काँप रही थी परिषद पीपल के पत्ते-सी
धू-धू कर के सुलग रही थी दाढ़ी, धुंआ घना था

इंद्रधनुष पर विद्युत-शर को रख कुमार ने मारा
और उधर से ज्वाला छूटी दृग की किरणों द्वारा
टूटे मरकत-स्तम्भ, भवन हो द्रवित बह चला जल-सा
अंबर-चुंबी हिम-शृंगों से जैसे निर्झर-धारा

डगमग था ब्रह्मांड, खगोल विकल हो टूट रहे थे
दशों दिशाओं बीच ज्यलित अंगारे छूट रहे थे
नगरों-सहित अचल पिस-पिसकर धँसते जलनिधि-तल में
फाड़ धरा को तरल अग्नि के निर्झर फूट रहे थे

पर्वत के शिखरों पर पर्वत उलट-उलट कर गिरते
लहरों पर पत्तों-से थर-थर द्वीप-पुंज थे तिरते
महादेश कितने कट-कट कर जुड़े अन्य देशों में
रवि-शशि भीत विहग थे नभ में शरण ढूंढते फिरते

बही सभा पर अचल कुमारी सँग कुमार था कैसे ?
भरे हुए भादों के नद में तट-तरू-छाया जैसे
देह न कटती आर-पार आयुध हो जाने पर भी
नीचे की धरती का राजा काँप रहा था भय से

अट्टहास फिर शांत प्रकृति में, दोनों पक्के धुन के
रुका वीर-रस-सा कुमार कुछ करुण याचना सुनके
राजकुमारी सज श्रृँगार-सी प्रिय के आगे आयी
एक साथ ही जुड़े नवो रस, आलंबन भी उनके

सब अनुभाव, विभाव और संचारी रहें भले ही
स्थायी में तो भाव करुण के आये हाय ! चले ही
पछताता था पिता हुई हठधर्मी, प्रेम न जाना
छूट चुका था भाला कर से प्रियतम के पहले ही

चीख उठा दानव पर सहसा रुकी नोंक भाले की
कठिन सुवर्ण-कलश से टकरा झुकी नोंक भाले की
मूर्छित गिरा कुमार प्रिया की मृत्यु समझ निज कर से
छू पायी थी पर केवल कंचुकी नोंक भाले की

दौड़ा राक्षस-राज अंक में रख कुमार के शिर को
यह मंत्रित मणि दंड दृगों पर लगा फेरने स्थिर हो
जिसके इंगित से नभ का नीला फाटक खुल जाता
राज-मार्ग दिखता जो सीधा जाता सुर-मंदिर को

जहाँ देवपति बिठा अंक में ऊर्वसि को अति सुख से
भर-भरकर मदिरा का प्याला लगा रहा हो मुख से
आठों पहर सुरा से बेसुध अलसित पलकों वाली
ढीठ सौत को देख रही हो शची रोषमय दुख से

उसी दंड के कंपन से यह शून्य नास्ति की सत्ता
मुखरित हो उठती है जैसे मधुमक्खी का छत्ता
दिशा-यवनिका हट जाती झिलमिला स्पर्श से उसके
मंद-मंद मारुत के द्वारा ज्यों पीपल का पत्ता

और स्वप्न का लोक झलकता वह मौक्तिक झलकों में
चित्र उतरते जिसके शिशु की नींदभरी पलकों में
मृदु कुमारिका के अधरों पर स्वप्निल चुंबन बनकर
प्रणय-स्पर्श की सिहर मानिनी की बिखरी अलकों में

जिसकी छाया इंद्रजाल-सी तरुण हृदय को छलती
सजल प्रिया-पलकों में प्रति-क्षण नूतन वेश बदलती
राजकुमार उठा झट होकर स्वस्थ उसी जादू से
देख कुमारी को विस्मित था चेतनता दृग मलती

ले कन्या की मृदुल हथेली वृद्ध पिता ने कर में
रख दी पुलकित हो कुमार के तरुण-अरुण करतल में
गोल-गोल गोरी बाँहें कुछ मिलीं हुई थीं ऐसे
पत्नी का चुंबन करता हो ज्यों ऐरावत जल में

मन्मथ के सँग रति हो जैसे बूढ़े विधि ने ब्याही
यौवन से मिलने आयी हो मानो सुंदरता ही
सूरज और चाँद-सी जोड़ी लगती थी दोनों की
बाँट रहे थे सचिव सभी को स्वर्ण-राशि मनचाही

साठ करोड़ थाल मरकत के मोतीभरे पड़े थे
अरबों मणिमय कलश भृत्य-गण सिर पर धरे खड़े थे
हीरों के थैले अगणित ही थे दहेज को प्रस्तुत
लाल-लाल विद्रुम-हारों में पन्ने हरे जड़े थे

सात लाख परियाँ जो पुरुषों द्वारा रहीं अछूती
एक-एक पर सो नर्तकियाँ यौवन मद से चूती
पहले से ही राजकुमारी के भू - केलि - गृहों में
भेजीं कोकिल-कंठ तरुणियाँ बना-बना कर दूती

कितने कोमल अंगों पर थीं सतरंगे पट पहने
कितनों के उर पर जगमग थे मृदु मोती के गहने
मुकुलित, विकच, अर्ध-विकसित यौवन ले अपना-अपना
लाखों परियां चली कुमारी के सँग भू पर रहने

जो गुनगुन गाते थे जिनके कुंतल घुँघराले थे
आठ पहर मदिरा पीकर जो रहते मतवाले थे
जिनकी छेड़छाड़ से रहतीं तरुण दासियां व्याकुल
हब्सी-बाल मधुप दल भी नीली आँखोंवाले थे

शुक-सी नाक नुकीली जिनके ओठ अरुण थे मधु से
कुछ पिक-वदनी करती थीं परिहास सलज नव वधु से
राज-हंस की आकृतिवाली पन्ने की नौका पर
चले कुमार-कुमारी दोनों गलित सुरभि के नद से

वृद्ध गँवा आँखों की पुतली, अश्रु रहा था ढलका
मानो वरुण करुण हो सागर बहा रहा हो जल का
याद आ रही थी उस दिन की मृत्यु-सेज पर अपने
सौंप रही थी प्रिया एकशिशु जब फूलों-सा हल्का

अनुनय भरे दृगों से कहती बिलख रहे प्रियतम को
हाय ! इसी के लिये विश्व में रखना देव स्वयम् को
और ब्याह हो जाने पर भी अपने दृग के आगे
कभी वर्ष में इसे न रखना चार मास से कम को

करुण हृदय से कढ़ी आह-सी नाव बढ़ी जाती थी
अतल, वितल, पाताल-गढ़ी से ऊर्ध्व चढ़ी जाती थी
अँगड़ाई ले जाग रही थी धरती पर हरियाली
मौक्ति-कणों से मरकत की पत्तियाँ मढ़ी जाती थीं

चित्रित थीं प्रिय-पार्श्व-भाग में मणिमय अंचल खींचे
राजकुमारी क्षीर-सुता-सी शेष-फणों के नीचे
द्वाभा के हिमकर-सी नौका मंद-मंद बहती थी
भू के कुसुमित कुंजों में से, प्रेम-वारि से सींचे

नाग-दंत की वीणा लेकर मृदु आंदोलित सुर में
एक बालिका बजा रही थी सम्मुख मीठे सुर में
मकड़ी के जाले-से पंखे दोनों दिशि झलते थे
लहरे उठ-उठकर देतीं थीं ताल रश्मि-नूपुर में

वल्लरियाँ परिचित-सी कर-चेलों को हिला रहीं थीं
कलियाँ किसलय-अंचल में से मृदु खिलखिला रहीं थीं
परिचित वन-तरु-कुंज, तितलियाँ इधर-उधर थीं उड़तीं
दौड़ गले लग-लग कर वे सखियाँ खिलखिला रहीं थीं

रक्त कमल-से अधर, दुग्ध-सी जिनकी चितवन-धारा
कितनी परियाँ कढ़ीं भूमि से बन-बन कर फव्वारा
चम्पा, बेला, नर्गिस कितनी, रूप बदल कर पथ में
धोखे से आलिंगित होतीं राजकुंवर के द्वारा

नीली थी कंचुकी किसी की गोरा-गोरा तन था
कांटेदार किसी की साड़ी, उलझ रहा दामन था
आँखें मटकाती थी कोई बाँध हवा मुट्ठी में
राजकुमारी की भौं में बल देख रुका चुंबन था

काँप उठा प्रिय देख प्रेयसी की पलकों में पानी
दौड़ी आयीं सातों बहनें कहतीं यों दीवानी
पाटल, जुही, कमलिनी, बेला चाहे दिन भर चटकें
लेकिन रात तुम्हारी होगी सदा रात की रानी

मृगतृष्णा

सम्मुख रवि दिवसावशेष का
मैं यात्री सा हिम-प्रदेश का
चला देखता दृष्य 'देश' का
हर्ष-हुलास-भरा

ऊँच-नीच से गिरती-चढ़ती
पगडंडी ज्यों आगे बढ़ती
और अधिक आती थी बढ़ती
भूरी स्वच्छ धरा

किरण-खचित थी अरुण रेणुका
पश्चिम नभ था कुंज वेणु का
लौट रहा था यूथ धेनु का
हृष्ट-पुष्ट मरु को

पुर की सीमा छूट चुकी थी
अभी न मेरी प्रगति रुकी थी
पथ रोके अब डाल चुकी थी
एक नीम तरु को

संध्या थी कढ़ रही रेत से
दीख पड़े तरु खड़े प्रेत-से
मैं मुड़ता पर एक खेत से
आगे बढ़ आया

कर के पार एक लघु घाटी
पहुँचा जहाँ खड़ी थी जाँटी
देखी रेणु-अचल परिपाटी
ऊपर चढ़ आया

वहाँ देखने लगा तनिक रुक
यत्र-तत्र उद्धृत पद-से शुक
गद्य-पुस्तिका-सा था सम्मुख
मरुथल खुला हुआ

चित्रित शिविर-सदृश रण-स्थल में
टीले थे दानव-से बल में
हँसता था जिनके अंचल में
मग ज्यों पग न छुआ

कूओं पर जल भरने जाते
कृषक उच्च स्वर में थे गाते
नभ-पथ से थे उड़ते आते
पंछी दूरी से

एक मोर पाँखें फैला कर
नाच रहा था ताल-ताल पर
सुर के सहित प्रशंसित होकर
मुग्ध मयूरी से

जाने दूर कहाँ से चलकर
एक थका कारवां डगर पर
चला आ रहा था मृदु-मंथर
लाद मिरच-लकड़ी

कहीं सजी थी सिंचित खेती
ऊसर भी जो थीं वर देती
खूब सँजोये थीं वह रेती
तरबूजे, ककड़ी

घनी चली आती थी तम-निशि
टीले लगते थे तप-रत ऋषि
मैंने अब वापस घर की दिशि
मुड़ने की ठानी

मरु ने थी जो अंकित कर ली
चरण-चिन्ह-रेखा निज घर ली
और पकड़ फिर वही डगर ली
जानी , पहिचानी

दिखी दूर पर सहसा आँधी
मैंने कसकर हिम्मत बाँधी
अभी दूर आया था आधी
घिरा धूलि-घर से

ढब से ढले ढूह वे ढालू
कंपे वृहत सित रुसी भालू
लगी रोम सी उड़ने बालू
उनके ऊपर से

आये झंझा-झटके भूरे
दोनों नयन रेत से पूरे
मैं एकाकी खड़ा सुदूरे
मरु में घबराया

छिपे दिगंत अमाँ में जैसे
इधर-उधर घन उड़े सभय-से
कहा हृदय ने 'मिटती ऐसे
बादल की छाया'

इसी समय आकुल-सी मन में
एक कृषक बाला निर्जन में
दीख पड़ी विद्युत-सी घन में
लहराती फिरती

एकाकी झंझा में चंचल
वह मरु में निर्झर-सी थी कल
इंदु-कला-सी जब वह श्यामल
मेघों से घिरती

बिखरी जाती थी उसकी लट
उड़ा जा रहा अरुणिम पट
चूर्ण पड़ा था एक ओर घट
हाथों से छुटकर

छूटकर साथी-सहेलियों से
और गाँव की नवेलियों से
मौन खड़ी थी हथेलियों से
मुख को संपुट कर

जलमय एक खंड में घट के
बिंबित अरुण छोर थे पट के
दूर बहुत थी वह पनघट के—
निकट न था घर भी

मृग मरीचिका देखे जैसे
शीश उठाकर मुझको वैसे
देखा उसने लज्जा-भय से
बोली निःस्वर भी

कुमारिका का अवसर पहला
दिये अपरिचित ने जब सहला
तनु, मुख पर आत्मिक आग्रह ला
नख-शिख तक सिहरी

विस्मित दृष्टि रही भू-लुंठित
भय से, लज्जा से अवगुंठित
अपनी ही सीमा में कुंठित
मूक बनी, ठहरी

भग्न कलश में झलकी छाया
पास खड़ी दो प्यासी काया
नयनों में नव मधु लहराया
आकुल यौवन का

मिले नयन बज उठी बाँसुरी
स्तर-स्तर स्वप्निल खुली पाँखुरी
जागा उर में भाव माधुरी
कोमल स्पंदन का

झंझा-झड़ थी स्तब्ध, भयानक
सूना स्थल, संध्या-तम भक-भक
मेरी ओर देखती तिर्यक्
वह हंसकर बोली

'आज खड़े जो हो सकुचाते
मेरे सपनों में मदमाते
जान गयी, तुम ही थे आते
फैलाये झोली

कहाँ अश्व, असि ? कहीं युद्ध हो
वीर-वेश के तुम बिरुद्ध हो
नहीं प्रेम में तो अशुद्ध हो
ओ मन के राजा !

चुंबन एक प्रतीति के लिये
फिर पूरब दिशि चले मुख किये
मुझे ब्याह में नहीं चाहिये
कुछ बाजा-गाजा

एक दिवस आयेगी आँधी
बचपन से थी आशा बाँधी
मुझको ग्राम-डगर से आधी
हर ले जाओगे

बाम नेत्र रह-रह फड़का था
विद्युतमय बादल कड़का था
आज हृदय मेरा धड़का था
साजन ! आओगे

गूँजी निशि के पद की पैंजनि
चमक उठी नभ की हीरक-खनि
आयी मंदिर की घंटा-ध्वनि
दूर-स्थित पुर से

एक मोर बोला शाखों पर
शशि त्रयोदशी का मृदु मंथर
हँसने लगा वक्र-मुख कढ़ कर
टीलों के उर से

सुरभित स्वास-स्पर्श अधरों पर
भुज-मृणाल गुंफन को तत्पर
देखी मैंने वह छवि सुंदर
बेसुध आँखों से

लहराई उर में मधु-लहरी
जागी प्रीति-भावना गहरी
वह छवि मानस-पट में ठहरी
छँट कर लाखों से

चमक रही थी रेणु रजत-सी
टीलों की माला पर्वत-सी
ज्योत्स्ना थी मृदु क्रीड़-रत-सी
चिकनी बालू पर

बिल से निकल-निकल कर पुलकित
खेल रहे थे अहि-शिशु अगणित
रज-कण को मणि समझ प्रहर्षित
रेती ढालू पर

दूर-दूर थीं चित्रित जाँटें
चमक रहे थे जिनके कांटे
हँसती थी कूओं की लाटें
मड़ी सुवर्णों से

लघु षटपदी कीट मृदु, मंथर
रेंग रहे थे चुप, चलने पर
कढ़ती थीं बेले अति सुंदर
जिनके चरणों से

मैंने वह प्रमत्त मुख देखा
पढ़ा भावनाओं का लेखा
कहा सिहरते गृह की रेखा
तुम क्यों तज आयी

डूब चुका है सूरज का रथ
जननी देख रही होगी पथ
ढूंढ रहे होंगे इति से अथ
कूँये पर भाई

जलमय दोनों पलकें मीचों
वाणी कढ़ी अश्रु से सींचो
गुरु कर्तव्य, भावना नोची
जग ने है माना

घर जाओ सपनों की रानी
मैं पंथी, नगरी अनजानी,
प्रेम सदा दुःखांत कहानी,
भूल न यह जाना

◆

जादू का देश

मैंने देखा एक अपरिचित
पीत-वदन, कृश-अंग, म्लान स्मित
भटक रहा था चरण-कंटकित
वह उजाड़ वन में

सिर पर प्रखर तपनि था जलता
पीड़ा से कातर कर मलता
झाड़-झँखाड़ों में ज्यों चलता
शव था जीवन में

तार-तार थे कपड़े तन के
ध्वज फहरे-से पागलपन के
लिपट कभी ठूँठों से वन के
वह सिसकी भरता

थिरक रही थीं क्षीण उंगलियां
जैसे मलयानिल में कलियाँ
हो मानो कुछ शब्दावलियाँ
स्मृति में स्थिर करता

देख मुझे रो पड़ा अभागा
भय से कुछ बकता-सा भागा
फिर ममत्व ज्यों मन में जागा
मुड़ लग गया गले

पीपल - पात - समान कांपता
कामरूप कह थकित, हाँफता
गिरा दाँत से ओठ चाँपता
मूर्छित, चरण-तले

वन था स्तब्ध, न पशु-पक्षी-स्वर
सुन पड़ता था दूर कहीं पर
तरुओं की छाया भी निःस्वर
भूमि-रचित सी थी

एक पहाड़ खड़ा था हटकर
पश्चिम में योद्धा-सा डटकर
उड़ती चील नील नभपट पर
चित्र-खचित-सी थी

हिलती थीं समीर में हौले
नागफणी फणि-सा मुख खोले
फुदक रहे थे तिनके को ले
हारिल चोचों में

फूल ढूंढते फिरते थे अलि
ढूंढ़ कहीं से मैं जल-अंजलि—
लाया, कंपित थी रोमावलि
भावो सोचो में

दिन डूबा सुनसान गगन से—
फिरते-थे खग-यूथ मगन-से
मुख पर कुछ गोधूलि-लगन-से
संज्ञा-चिह्न फिरे

उगते दो तारों-से नभ से
चमक उठे लोचन निष्प्रभ-से
पर क्षण ही, पर-ज्वलित शलभ-से
पर द्युति-हीन गिरे

संध्या-नभ-सा श्याम बना मुख
बांया हाथ उठा कर सम्मुख
बोलो वह जैसे मूर्तित दुख
मुखरित आप बना

देखो डूब रहा घाटी में
रवि नित की सो परिपाटी में
उस पर्वत पर की 'जांटी' में
रख कर तिमिर घना

प्रातसमय जिसके तम-पथ पर
कढ़ता यह सोने के रथ पर
है भारत के पूर्वी-अथ पर
भू वह स्वर्णमयी

कौतुकमय हैं जिनकी कृतियां
इंद्रजाल-विद् जहां युवतियाँ
बदला करतीं है अकृतियां
नित-नित नयी-नयी

घरे जाह्नवी जमुन-किनारे
उस अति दूर देश को हारे
जाने रात-दिवस बंजारे
सोना लाने को

मध्य ग्राम, पुर पड़ते कितने
अंबर-पथ पर तारे जितने
जाते भूल, लुब्ध वे इतने
फिर गृह आने को

इधर प्रेम-वंचित अभागिनी
गातीं व्याकुल विरह-रागिनी
'रात पिया बिन काल नागिनी
डँसने को आयी'

दिवस बीतते काग उड़ाते
अश्व मदन के वंध तुड़ाते
छोड़ गये जो व्यथा छुड़ाते
बाँह पकड़, माई !

दृष्टि चतुर्दिक उसने डाली
रात मसान घिरी थी काली
प्रेतों-से करते रखवाली
ठूँठ अडिग-पल थे

वियावान जंगल दसकोसी
दूर-दूर तक थी खामोशी
चिता-सदृश अंबर में रोषी
तारे जल-जल थे

ऐसी ही थी काल-रात्रि वह
सहने को प्रस्तुत, दुख दुःसह
मैं गृह की कांति को विदा कह
बाहर था आया

'आह मुझे था विलग न होना',
पढ़ता ज्यों कुछ जादू-टोना
बोला वह, क्षण भाव सलोना
मुख पर लहराया

कितने अश्रु-सजल चुंबन में
रख मन की साधे सब मन में
छोड़ सदन-सारिका सदन में
भारी अंतर से

दल के साथ-साथ पग श्लथ धर
बिछुड़ा हुआ चला तम-पथ पर
पहुँचा मैं पूरब के अथ पर
दूर देश घर से

कितने दिन, कितनी ही रातें
याद हाय ! करते वे बातें—
बीती, छू न गई थीं घातें
अभी चपल मन की

उड़ी पखेरु-सी प्रिय पाती
संदेशे लाती, ले जाती
चिर-रक्षित थी यौवन थाती
अश्रु-घुले प्रण की

और ऐक दिन चढ़ा नाव में
मैं जाता था दूर गाँव में
नदी किनारे घनी छाँव में
दो वट पेड़ों की

वे कुमारियाँ थीं जिनके डर
वहाँ न पाते मानुष पग धर
जो क्षण में नर को देतीं कर
आकृति भेड़ों की

देख मुझे वे खड़ी हुईं झट
इंगित करके खींच लिये पट
बोली एक पथिक ! रुक पनघट—
पर, पानी पी लो

दूर देश से चलकर आये
कड़ी धूप में हो कुम्हलाये
तृषावंत आ देश पराये
मरो न यों, जी लो

मैंने चाहा कि मुँह मोड़कर
भाग चलूँ घर, नाव छोड़कर
डूब सकूँ पतवार तोड़कर
जल के तल में भी

आयी याद प्रिया अबोध-मुख
नयी वधू ने देखे क्या सुख !
और जा रहा था मैं सम्मुख
बुझे छल में भी

रोये रोयें-रोये तनकर
तन-मन काँप रहे थे थर-थर
विवश बनी तट की दिशि मंथर
नौका जाती थी

चितवन चमकी स्निग्ध दुग्ध-सी
मन की इच्छा के विरुद्ध-सी
चेतनता सर्पिनी मुग्ध-सी
झूले खाती थी

चुंबक-पर्वत की दिशि जैसे
खिंचे जहाज वृहत अति, वैसे
खिंचता था मैं शंका, भय से
उनके जादू से

लगते सब भू-व्योम-अनिल-जल—
मंत्रित-से थे, रवि-शशि अचपल
सम्मुख उनके मनुज-यत्न-बल
थे बेकाबू-से

देखा मैंने वह कंचन-पुर
छम-छम बजते मधु के नूपुर
हार नौलखा से भूषित उर
सुंदर लगते थे

रत्न-खचित थे महल अनूठे
काँच कौन कह देता झूठे ?
अधर आह ! कितनो को जूठे
मधु से ठगते थे

दिन-सी हंसती रातें काली
जगती जगमग नित्य दिवाली
वे ऊंची अटारियों वाली
टोने पढ़-पढ़कर

पिंजर-वद्ध बना मुझको शुक
रजत कटोरे रख कर सम्मुख
भाँति-भाँति के देतीं थीं सुख
सोने से मढ़कर

ऋतु पलटी, पलटे युग-वसंत
बीत गये दिन, पक्ष, मास शत
मधुकर-सा कलि-उर-गुंजन-रत
मैं सब कुछ भूला

यह माया नगरी है सपना
अंत पड़ेगा ज्ञात न, तपना
सुख वह भाग्य समझ कर अपना
था फूला-फूला

जो होता बारह वर्षों पर
था देवी-पूजन-उत्सव वर
अति प्राचीन रहे जो थककर
दूत वासना के—

(भरे युवतियों से पथ संकरे)
जिनके उर शोभित थे गजरे
जाते थे बलि को दे बकरे
गृह उपासना के

शून्य कक्ष में एक अल्प-वय
आयी बाला, मुख-अंकित-भय
बोली मंद, सदय, 'वे निर्दय,
आह ! नहीं मानीं

मेरे विहग ! उड़ चलो, भागो
अब भी सुख-निद्रा से जागो
रत्न-पाश की ममता त्यागो,
ओ भोले प्राणी !

आह ! तुम्हें सब कुछ कह देती,
क्यों मैं यह संकट हूँ लेती
यदि न प्रेम की पीड़ा सेती
तोड़ रीति कुल की

भागो होड़ पवन से बद कर
इस नगरी की पश्चिम हद पर
जादू की सीमा है नद पर
बने हुये पुल की

मैं बढ़ चला पंख फैलाये
पुर-वधुओं की आंख चुराये
घाट नदी के तट के आये
देखा ज्यों फिरकर

उड़ी आ रहीं थीं अश्रुत-सी
पीछे कुछ परियां मारुत-सी
श्याम चिकुर फैला विद्युत-सी
मेघों से घिरकर

छू न सकीं मुझको पुल तक जब
जान मंत्र-बल से सब करतब
मुझे प्राणदायिनि का, वे सब—
उसी ओर दौड़ीं

काट दिये वे गाल फूल-से
रौंद मृदुल तनु-लता मूल से
रक्त वसन पर फूंक धूल से
फेंकी चित कौड़ी

तोड़ चंचु से तन का तागा
मानुष-चोला पा मैं भागा
मन ने कहीं विराम न माँगा
विकल प्रिया-स्मृति कर

जोगी बनकर अलख जगाता
घर-घर भीख माँगता, खाता
चला, हाय, रोता-पछताता
बीते अवसर पर

शत-शत नगर ग्राम से होता
पथ पर सतत जागता-सोता
मैं बढ़ता था धीरज खोता
पश्चिम की दिशि में

गति, केवल गति, गति थी जीवन
आगे, बस आगे हा क्षण-क्षण
चलता जाता था अधीर बन
दिवस और निशि में

आज यहाँ, कल वहाँ, इस तरह
सह पथ के कितने दुख दुःसह
आज यहाँ हूँ कथा तुम्हें कह
जो हलका करता।

अब सब हिम्मत छूट रही है
नस-नस कसकर टूट रही है
रोम-रोम से फूट रही है
पीड़ा, कातरता।

अब भी आंके सेंदूर सिर में
सजा आरती उसी अजिर में
बैठी होगी छवि-मंदिर में
वह विरहिन बाला

गाती, 'अब सुधि लेगा बालम
यौवन-पंछी और तनिक थम
बारह वर्ष गये, अब बालम
है आनेवाला।

बहती आज पवन पुरवैया
आयेगा सब आब खिवैया
डगमग मेरी जीवन-नैया !
दो दिन रह तिरती

आह बसंत ! रुका रह भाई
होगी तेरी भी पहुँनाई
मेरी भी अब देख, गँवायी—
बाजी है फिरती'

कह न सका आगे कुछ भी वह
दृग थे सजल, यंत्रणा दुःसह—
व्यापी ज्यो तन-मन में 'उफ' कह
लेट गया भू पर

चलने साँस लगी जोरों से
दोनों नयनों के कोरों से
ढुलके दो आंसू चोरों-से
गालों के ऊपर

अस्फुट स्वर में निकली वाणी
मृत्यु, हाय ! पथ में थी आनी
बोला ! मुझसे, बंधु निशानी—
लो, इतना करना

यदि जा निकलो दूर देश में
तुम मेरे प्यारे स्वदेश में
तो मेरे घर पथिक-वेश में
पथ का श्रम हरना

कहना उससे एक अपरिचित
मुझे मृत्यु के क्षण कर में धृत
दे मुद्रिका गया दूरस्थित
छाया के जग में

दूर, सुदूर देश से चल कर
वह आने को था इस स्थल पर
लेकिन पथ के ही अचल पर,
सांप डंसा पग में

आखें यों पथरायी जातीं
फूल रही थी रह-रह छाती
बोली अब थी निकल न पाती
शेष प्रतीक्षा में..

सहसा चीख उठा वह 'आया,
पास तुम्हारे मैं, मनभाया
देवि ! बहुत तुमने दुख पाया
विकल प्रतीक्षा में'

हिचकी आयी जैसे तन से
एक हवा-सी निकली सन-से
फटी पुतलियां, शव-लक्षण से
लटक गया सिर भी।

पर आश्चर्य, सामने तानी
थी जिसमें मुद्रिका पुरानी
बांयें कर की उँगली कानी
हिलती थी फिर भी।

●

गड़ेरिये के गीत

(१)

पर्वत-घाटी पार वे गये
संध्या के धुंधले तम में ढूंढने ज्योति का द्वार वे गये
चिंता मुझे साथ वे अपने रथ-हय-गज न सवार ले गये
थे इस पार अपार बंधु, उस पार बिना आधार वे गये
स्वामी मुझे श्वेत भेड़ों का, इन पेड़ों का भार दे गये
'हम न फिरेंगे, हम न फिरेंगे' कहते बारंबार वे गये
बालू में यह नौका वे तो बिना डांड पतवार खे गये
कैसे पार लगेगी पर अब छोड़ जिसे मंझधार वे गये
पर्वत-घाटी पार वे गये

(१)

इस घाटी का अंत कहां है ?
तारो की सित भेड़ चराता फिरता नग्न दिगंत जहां है
कंचन-विरचित-भवन, रत्न-मणियो का कोष अनंत वहां है
जुते रजत के खेत, हर घड़ी रहता खड़ा वसंत जहां है
दूर क्षितिज में, झुका धरा पर नभ का कुसुमित वृंत जहां है
क्या हरीतिमा में अवगुंठित वन-वाला का कंत वहां है ?
इस घाटी का अंत कहां है ?

(३)

किसके साथ विहार करूँ मैं ?
फूल चुन लिये पर निर्जन में किस छवि का शृंगार करूं मैं ?
किसको भुज-बंधन में कसकर निज से एकाकार करूं मैं ?
किसके प्राणों में प्राणों का यह मृदु भार उतार धरूं मैं ?
संध्या, ऊषा, कुसुम, खग, धरती, अंबर, किसको प्यार करूं मैं ?
झाँक रहा है कौन सभी से जिससे आंखें चार करूं मैं ?
जो करता है आज किसी का प्राणों से अभिसार करूं मैं ?
अर्थ-रहित सा जीवन ले कर कब तक यों बेकार मरूं मैं ?
किसके साथ विहार करूं मैं ?

(४)

सपने में करता माया-सा
अंधकार के पट में लिपटा कोई भीम पुरुष आया था
सिर उसका नभ को छूता था नीलम की छत का पाया-सा
लंबे-लंबे पैरों पर चल रहा ताड़-तरु की छाया-सा
दूर गुफा में घर है उसका जहां सुकोमल शिशु-काया-सा
एक वृषभ सित देखा मैंने तप्त रक्त से नहलाया-सा
सपने में करता माया-सा

(५)

कौन तुम, पूर्व क्षितिज के पार ?
प्रति प्रभात आती हो रूपसि ! कर षोड़स श्रृंगार

नील मधुप स्वागत में उड़ते खोल कमल-दल-द्वार
भानु तुम्हें पहिनाने को बढ़ता किरणों का हार
चलती तुम अरुणिम सागर-लहरों पर लघु-पद-भार
छवि की आत्मा-सी, जड़ में चेतन करती साकार
कौन तुम, पूर्व क्षितिज के पार ?

(६)

नवोढ़ा-सी तुम कौन गगन में ?
उषे ! तुम्हारा रूप देखकर कितना आज मगन मैं

तरल सीप में पानी - सा लावण्य प्रवाहित तन में
अरुण कपोल खिले पाटल दो मानो नभ-प्रांगण में
तारोंवाली रात गयी है रोती अभी विजन में
किसका आज प्रवेश हो रहा नीले मेघ-भवन में ?
नवोढ़ा-सी तुम कौन गगन में ?

(७)

लो गयीं वे भेड़ें किस निर्जन में ?
ंध्या-रंग-भरी इस गिरि-घाटी से होती, श्वेत घनों-सी क्षण में

कसी दैत्य-माया में भटक पड़ीं वे
चलते-चलते पथ में कहीं अड़ीं वे
मुग्ध देखती नभ की फूलझड़ी वे
ज्यो सित सर्पावली पूंछ के बल हो सीधी खड़ी गरुड़-पूजन में
चलीं गयीं वे भेड़ें किस निर्जन में ?

ागल परियों-सी प्रतिध्वनियाँ मेरी
जहाँ खड़ी वे शाखा-तले अंधेरी
देती उस अज्ञात कुंज की फेरी
तन पर मँडराती आत्मा-सी लौट न जो पाती निज पूर्व सदन में
चलीं गयीं वे भेंड़े किस निर्जन में ?

मंत्र विशाचर-वधुयें पढ़ती होंगी
धीरे-धीरे आगे बढ़ती होंगी
एक-एक कर बलि में चढ़ती होंगी
ेरी वे प्यारी भेड़ें, मुझको पुकारती, किस अज्ञात विजन में ?
चलो गयीं वे भेड़े किस निर्जन में ?

(८)

संध्या की पीली किरणों पर चढ़कर,
जब मैं घाटी पार चला जाऊंगा
सुन प्यारी भेड़ों का क्रंदन, मुड़कर
यहाँ कभी फिर लौट भला पाऊंगा ?

खेत बांध कच्ची मिट्टी की मेड़ों से
मिलता कृश बांहें फैलाये पेड़ों से
लिपट सुकोमल ऊन भरी इन भेड़ों से
गिरि-निर्झर लांघता, तीर सा बढ़कर
छाया-सा तम में कुम्हला जाऊंगा
संध्या की पीली किरणों पर चढ़कर,
जब मैं घाटी पार चला जाऊंगा

तब मैं हिममय चट्टानों में पड़ा हुआ
सड़े बीज-सा भू में हूँगा गड़ा हुआ
या तारे-सा मूक गगन में जड़ा हुआ
मंडराता रजनी के सूने गढ़ पर,
प्रस्तर-झंझा से कुचला पाऊंगा
संध्या की पीली किरणों पर चढ़कर,
जब मैं घाटी पार चला जाऊंगा

वहाँ न यह भू, नभ, गिरि, वन, प्यारा होगा
रात, न दिवस, न रवि, शशि या तारा होगा
दृश्य भिन्न ही उस जग का सारा होगा
एक बार इस मृण्मय घर से कढ़ कर,
रूप कहाँ से फिर पहला पाऊंगा ?
संध्या की पीली किरणों पर चढ़कर,
जब मैं घाटी पार चला जाऊंगा

(६)

इस नीली गिरि-घाटी के उस पार,
क्या कोई छवि सागर है लहराता ?
जहां, प्रात, विहगों का यूथ अपार,
नन्हें पर फैलाये उड़-उड़ जाता
श्याम निशा में कभी सिंह-गर्जन-सा
दूरी से आता कुछ शब्द गहन-सा
सुनता हूँ मैं भी तो विस्मित बन-सा
ज्यों कोई असफल प्रेमी सिर मार,
शिला-खंड पर हाहाकार मचाता
इस नीली गिरि-घाटी के उस पार,
क्या कोई तम का सागर लहराता ?
कहते सब, उस सागर में मोती हैं,
तट पर परियां, पुरुषों हित रोती हैं
दैत्यों-सी जलचर-काया होती है,

जो मनुजों पर करतीं दंत-प्रहार,
पास कुतूहल से जो खिंच कर आता
इस नीली गिरि-घाटी के उस पार,
क्या कोई छवि का सागर लहराता ?

संध्या, उषा सलोनी दोनों बहनें
कढ़तीं उससे पहने मणिमय गहने
दिनकर जाता वहीं रात भर रहने

शिर से जलता अग्नि-किरीट उतार,
निशा-वधू-अंगों पर दृष्टि गड़ाता
इस नीली गिरि-घाटी के उस पार,
क्या कोई छवि का सागर लहराता ?

(१०)

यह हिरणय मय लोक कहाँ था ?
कौन सप्त अश्वों के रवि-रथ को बढ़ने से रोक रहा था ?

सारी निशि तमसा के तट पर रोता विरही कोक रहा था ?
पद्म-भित्ति में वंदी मधुकर गड़ा चरण की नोंक रहा था

आते हुये गगन-पथ में रवि को उलूक-दल टोक रहा था
रजनी भर आश्रय जिसका प्राची का अरुण अशोक रहा था
यह हिरण्यमय लोक कहाँ था ?

(११)

पंथ अगम, निशि भारी
एक - एक कर चले गये सब, अबकी मेरी बारी

साथ न कोई, सँकड़ी है पगडंडी जैसे आरी
समय बीतता, चलने की करनी होगी तैयारी

इसके पार सुनहली नगरी, भवन, बगीचे, क्यारी
जोह रही होगी पुरबाला बाहर बाट हमारी
पंथ अगम, निशि भारी

(१२)

देख रहा मैं सन्मुख स्मृति से धुंधले नील गगन को
किस अरण्य में लिये जा रही किरण उड़ा कर मन को

सप्त सिंधु के पार सांध्य-नगरी में
जहाँ दीप तारों के जलते धीमे
चला जा रहा हूँ मैं डरता जी में
पछतावे-सा, छोड़ स्वप्न-सा, पथ पर भारी तन को
देख रहा मैं संमुख स्मृति से धुंधले नील गगन को

प्रस्तर बने वहाँ के सब अधिवासी
शून्य हाट, पुर, भवन, अनंत उदासी
कंठ मसोस रही यह कैसी फाँसी ?

सह पाऊँगा मैं इन कंकालों के आलिंगन को !
देख रहा मैं सम्मुख स्मृति-से धुँधले नील गगन को

तिमिर-प्रेत से भीषण दाँत निकाले
बेध रहे स्मृतियों के जलते भाले
कौन आह ! ये भीषण आकृतिवाले ?
वज्र-मुष्ठि से चूर-चूर कर बिखराते चेतन को
देख रहा मैं सम्मुख स्मृति-से धुँधले नील गगन को

●

मैं यौवन की पंखुरियाँ खोल रहा हूँ

मधु की निर्झरणी-सी उमड़ चली
शब्दों की अवली
ज्यों मिसरी-डली
मेरी कविता कोकिल की काकली
मैं कुंजों में करता कल्लोल रहा हूँ
मैं यौवन की पंखुरियाँ खोल रहा हूँ

रूप-राग के फाग घने उड़ते
नयन-कोर मुड़ते
प्याले जुड़ते
ज्वार - वासना, बंध निखिल तुड़ते
मैं मदिरा में मादकता घोल रहा हूँ
मैं यौवन की पंखुरियाँ खोल रहा हूँ

चुप, अतीत, नीले नयनों में तिरते
कहाँ विकल फिरते
ये जन, अस्थिरते !
बीत गया सुख, दुख के बादल घिरते
मैं सन्नाटे के भीतर बोल रहा हूँ
मैं यौवन की पंखुरियाँ खोल रहा हूँ

सम्मुख अतल महोदधि-सा अज्ञात
मैं तट पर तमसात
जग के, आधी रात
किससे पूछूँ चिर रहस्य की बात ?
मैं भावों से गहराई तोल रहा हूँ
मैं यौवन की पंखुरियाँ खोल रहा हूँ

●

स्वर-वसंत फूटे

टूटे बंध छंद-कलियों के, गीत-सरित छूटे
स्वर-वसंत फूटे

तान कोकिला की कल कूजें
शब्द मधुप-माला बन गूँजे,
राग-सुमन चरणों के पूजे
तरुओं ने लूटे
स्वर-वसंत फूटे

नाद-अतनु तनु-तनु में व्यापा
नग्न ताल, मूर्च्छित वन कांपा,
लय ने किसलय-पट से ढांपा
बोल बने बूँटे
स्वर वसंत फूटे

मलयज के तारों पर मचली
बन मंजरी मोड़ की उँगली
स्नेही सरसों-भौंड़ बढ़ चली
भर पराग-मूठे
स्वर-बसंत फूटे

लौट गये करुणामय आकर द्वार,
चूक-क्षमा माँगी नहीं
सारी रात गंवा दी अरी गँवार !
पल भर को जागी नहीं.

डँसे हुये थी तुझे नींद की नागिनी
जल-थल-नभ में बजी मिलन की रागिनी
कब आये प्रिय ! जाना नहीं अभागिनी !

यह भी क्या सोना ! कि गये वे हार,
नींद मरी त्यागी नहीं
लौट गये करुणामय आकर द्वार,
चूक-क्षमा मांगी नहीं
सारी रात गँवा दी अरी गंवार !
पल भर को जागी नहीं

प्रथम विजय-लालसा, कला अभिनय की
वय-अबोधता थी या पुतली भय की
गर्व अड़ा या उमड़ी लाज हृदय की
जग, प्रभात के मृदु पद-चिह्न निहार,
उठ, पीछे भागी नहीं
लौट गये करुणामय आकर द्वार,
चूक-क्षमा माँगी नहीं
सारी रात गंवा दी अरी गँवार !
पल भर को जागी नहीं

जाग बिता देती अब सारी रात
फिर जाता आ-आकर मलिन प्रभात
अब क्या हो वह बीत चुकी जो बात
कभी प्यार करने फिर उसी प्रकार,
लौटे अनुरागी नहीं
लौट गये करुणामय आकर द्वार,
चूक-क्षमा माँगी नहीं
सारी रात गँवा दी अरी गँवार !
पल भर को जागी नहीं

राते रोते चुका नयन का पानी,
तिल भर झुकी नहीं
धीरे-धीरे चली गई पाषाणी,
रोके, रुकी नहीं

रुठ गई क्यों ? वह तो करुणामय थी
मुझ पर तो स्मिति-भाषी, सदा सदय थी
वे यौवन-चंचलतायें अभिनय थीं ?
कैसे सचमुच यों जानी-अनजानी होके रुकी नहीं
ठिठकी, फिर भी चली गयी, पाषाणी, रोके, रुकी नहीं

कुम्हलाये थे अधर, गात पीला था,
चली गई क्यों ? भुज-वंधन ढीला था ?
मर्माहत भी आनन गर्वीला था
नयनों में उपहास लिये, अभिमानी होके रुकी नहीं
क्षमा-दान दे चली गई पाषाणी, रोके रुकी नहीं

कायर, दोषी, सरल, हृदय यह मेरा
जाते क्षण मुट्ठी में लेकर फेरा
देखा मैंने मुख ममत्व से घेरा
झंझा में घन-घटा सदृश दीवानी होके रुकी नहीं
जल बरसाती चली गई पाषाणी रोके रुकी नहीं

जागरिता

नींद में सोयी हुई थी मैं उसाँसों से जगी
पा तुम्हारा स्पर्श, वीणा की तरह बजने लगी

स्वप्न-से उस जागरण में, चकित-नयना बालिका-सी
अरुण पुलकों से लदी मैं खिल पड़ी शेफालिका-सी
मधुर स्पंदित उर कहीं निज को छिपाना चाहता था
तिर चली संगीत पर भुज-वल्लि गौर मरालिका-सी

चंद्रिकाकुल सरित के तट पर गयी सहसा ठगी
प्राण तुमको ! देख मैं मंजीर-सी बजने लगी

साँस में तुमने जलाये दीप, मैं हँसने लगी थी
प्रेम की मनुहार पा कर, स्वप्न में बसने लगी थी
पी गई ज्वाला अमरता की तुम्हारी दृष्टि से मैं
चाँद था पीला-गगन में चाँदनी घंसने लगी थी
चटकती थीं रुपहली कलियाँ लताओं पर टँगी
प्रिय तुम्हारे अंक में मैं बीण-सी बजने लगी

अरुण पल्लव-से सुकोमल हाथ में ले हाथ मेरा
फुल्ल कुसुमों से किया अभिषेक तुमने नाथ ! मेरा
माधवी वन में न जाने सो गयी कब गर्विता मैं
कब गये थे छोड़कर सुनसान में तुम साथ मेरा ?
चूम गौर कपोल की सिहरन अरुणिमा से रँगी
जब तुम्हारी सांस में मैं वेणु-सी बजने लगी

○

तुम्हारे रूप-मधुवन में समीरन मैं बनूँ तो क्या !
तुम्हारी आँख में अंजन, निरंजन मैं बनूँ तो क्या !

सुरभि दिशि-दिशि बसी जाती
पलक छवि में फँसी जाती
कँटीले चाँद-सी तिरछी
हँसी उर में धँसी जाती
तुम्हारे प्राण के घन में तड़ित-कण मैं बनूँ तो क्या !
तुम्हारे रूप-मधुबन में समीरण मैं बनूँ तो क्या !

खिली कचनार-सी बाँहें
न मन की मिल सकी थाहें
उफनते दूध-सा यौवन
बिकसते फूल-सी चाहें
तुम्हारे स्नेह गोपन में पुलक-क्षण मैं बनूं तो क्या !
तुम्हारे रूप-मधुवन में समीरन मैं बनूं तो क्या !

मलय की साँस पीने दो
कली के होठ सीने दो
पलक की छाँह में मुझको
न मरने दो, न जीने दो
तुम्हारी चाह में धन में, अकिंचन मैं बनूं तो क्या !
तुम्हारे रूप-मधुवन में समीरन मैं बनूं तो क्या !
तुम्हारी आँख में अंजन, निरंजन मैं बनूं तो क्या !

गुंफन

इतने मीठे मन में कैसे इतना गुंफन पाल लिया !
बुझने दिया ! दिया जीवन का, पल भर भी न सँभाल लिया
जिसे मसल सूने में फेंका
मुड़कर कभी उसे फिर देखा !
उड़ी अधर-पुट की स्थिति-रेखा
रो-रोकर क्या हाल किया ?
इतने मीठे मन में कैसे इतना गुंफन पाल लिया ?

यौवन के पहले परिचय की
गूँजी जो रागिनी प्रणय की
प्राण-प्राण की, हृदय-हृदय की
ऐसा सुर बेताल किया !
इतने मीठे मन में कैसे इतना गुंफन पाल लिया !

बीत चुकी जब रात अभागी
सब कुछ खो जाने पर जागी
बिदा-क्षमा सँग ही सँग माँगी
अंतिम समय निहाल किया
इतने मीठे मन में कैसे इतना गुंफन पाल लिया !

गीत वन कर ही अधर के पास आना चाहता हूँ
मैं तुम्हारे प्राण का उच्छ्वास पाना चाहता हूँ

माधवी बन के रसीले, प्रात टटके फूल जैसे
प्रीति के अंकुर, कहाँ सोये शिथिल भुजमूल ऐसे !
मैं इन्हीं में मृदु पुलक-मधुमास लाना चाहता हूँ
स्वप्न बनकर ही पलक के पास आना चाहता हूँ

प्राण का आलोक बंदी नमित पलकों की निशा में
दीप की लौ-सा हृदय बहता न जाने किस दिशा में !
मैं उसी की ज्योति का आभास पाना चाहता हूँ
स्नेह बन कर ही नयन के पास आना चाहता हूँ

चपल अनुकूल से भवों को, मान हिम-सा चूर कर दूँ
प्रेम से सौंदर्य का यह द्वन्द्व शास्वत दूर कर दूँ
मैं सलज मुख पर तुम्हारे हास लाना चाहता हूँ
चित्र बनकर ही चिबुक के पास आना चाहता हूँ

खींच कर निःस्वास-सा मुझको हृदय से तुम लगालो
सजल अलकों में सजालो, सलज पलकों में छिपालो
मैं भवों पर बन विजय-उल्लास छाना चाहता हूँ
हार बनकर ही गले के पास आना चाहता हूँ

रहे हँसता ही नयन का अश्रुमय भी एक कोना
चाहता हूँ मैं विरह में भी न तुम से दूर होना
मैं तुम्हारा बन सजल निःश्वास जाना चाहता हूँ
अश्रु बनकर ही चरण के पास आना चाहता हूँ

अश्रु-कण झरते रहे प्रिय ! तड़ित-सी हँसती रही तुम

आज उड़ने को विकल हैं प्राण-खग दृग-खिड़कियों से
स्वर्ण-सी काया तुम्हारी गल गयी कटु झिड़कियों से
यह उदास तटस्थ मुख की दृष्टि मैं पहिचानता हूँ
वक्ष यह फूला, रुँधा, घुटता रहा है सिसकियों से
ज्योति-लांछित शून्य कोने में घुली, उमड़ी, बही तुम
अश्रु-कण झरते रहे प्रिय ! तड़ित-सी हँसती रही तुम

स्वार्थ को दूँ दोष मैं ? युग से पुरुष की यह कहानी
कब न जाने बँध गये थे हाय ! पत्थर और पानी !
रागिनी मेरी ! प्रणय - मकरंद-धौत सुवर्ण - लतिके !
मान मैं सौ बार भूला, रूठ तुम सौ बार मानी
दैन्य मन का एक पल भी देख थी सकती नहीं तुम
अश्रु-कण झरते रहे प्रिय ! तड़ित-सी हँसती रही तुम

कब भला तुमने क्षितिज पर चाँदनी का देश देखा ?
कब बिठाकर अंक में सजाते मुझे निज केश देखा ?
मिलन की मधु रात भी रोते बिलखते ही बितायी
मिट गया असमय हृदय ने जो पुलक-उन्मेष देखा
मानिनी ! सब कुछ सहन करने लगी थी आप ही तुम
अश्रु-कण झरते रहे प्रिय ! तड़ित-सी हँसती रही तुम

शुष्क, श्वेत कपोल हिम-से रुक्ष अलकों में गड़े-से
मलिन दृग-तारक गगन से ज्योतिहीन ढुलक पड़े-से
क्षीण, गौर कलाइयों में रोक रक्खी चूड़ियाँ दो
चित्र निष्प्रभ, अग खो लावण्य, शंया में जड़े-से
देखता हूँ मैं चकित-सा, रूप की प्रतिमा वही तुम ?
अश्रु-कण झरते रहे प्रिय ! तड़ित-सी हँसती रही तुम

आज मेरी भूल सारी भूल जाना चाहती हो
स्नेहमय पा स्पर्श सिर पर, फूल जाना चाहती हो
पर अतीत मिटा निमिष में सरल है न भविष्य इतना
क्षमामयि ! दोषी पगों की धूल पाना चाहती हो !
यह नहीं पाथेय, जाना चाहती यदि बेकही तुम
अश्रु-कण झरते रहे प्रिय ! तड़ित-सी हँसती रही तुम

आँखें

स्मिति से रंजित, अंजित, चपल नयन
मिलन का चाव ले
ज्यों सुधांशु में करते सुधा-चयन
मधुप दो साँवले

जड़े हुये लज्जा के ताले से
भूमि खुरचते झुक मतवाले-से
तिर्यक-उर, ज्योतिश्चक डाले-से
बँक, विशाल, विशद, ज्यों बंधे अयन
तुरंग उतावले
स्मिति से रंजित, अंजित चपल नयन,
मिलन का चाव ले

भौंह कमान खिँचो कानों तक बेगुन
पल-तूणोरों से चितवन-शर चुन-चुन
करता चंचल चोट चर्तुदिक अकरुण
निकला ज्यों त्रिभुवन-जय-हेतु मयन
मीन को नाव ले

स्मिति से रंजित, अंजित चपल नयन,
मिलन का चाव ले

लाज-ललाई छायीं कोनों में
मढ़े हुये - से जादू-टोनों में
दो चकोर बैठे हैं दोनों में
देख चंद्र-मुख करते नहीं शयन
हर्ष से बावले

स्मिति से रंजित, अंजित चपल नयन,
मिलन का चाव ले
ज्यों सुधांशु में करते सुधा-चयन
मधुप दो सांवले

मेरा लक्ष्य खो गया साथी ! जैसे तारा भोर का
मेरा मीत नहीं हो पाया, जैसे जैसे चाँद चकोर का

मैंने समझा था यह जीवन फूलों की मुस्कान है
मैंने समझा था यह यौवन, कलियों का मधुपान हे
सपनों की नगरी में बेसुध बनकर चलना, भूल थी
आँख खुली तो कुसुम नहीं; वे कली न वह उद्यान है
लघु तरणी को घेर गरजता सागर चारों ओर का
मेरा लक्ष्य खो गया साथी ! जैसे तारा भोर का

वे भी है जो लहरों में धँस, मोती लाते तीर पर
वे भी है जो अमृत चुवाते, हृदय चाँद का चीरकर
मैं भी हूँ जो भावों से ही भरता रहा अभाव को
बादल के घोड़े पर चढ़कर उड़ता रहा समीर पर
ज्ञात नहीं किस ओर जा रहा यह पतंग बेडोर का
मेरा लक्ष्य खो गया साथी ! जैसे तारा भोर का

एक चरण लहरों पर मेरा, एक तटी की रेत पर
मेरी सांसों से कढ़ता है दोनों का समवेत स्वर
पर मैं किसको कहूँ कि मेरा, वह भी मुझसे दूर है
जीवन भर चलता आया हूँ मैं जिसके संकेत पर
रहा उपासक सदा-सदा मैं जिसकी करुणा-कोर का
मेरा लक्ष्य खो गया साथी ! जैसे तारा भोर का

आओ मिल लूँ बाँह पसारे, अब की जाना दूर है
घुटती साँस, छूटता साहस, तन-मन थककर चूर है
वही देश अनजाना जिसकी ओर सभी जन जा रहे
जीवन के सारे कर्मों का अंत एक जो क्रूर है
आने वाले रहें समझते आशय सुरभि-झकोर का
मेरा लक्ष्य खो गया साथी जैसे तारा भोर का

●

शोक गीत—

आज जर्जर तरु-शाखा टूटी

कई बसंत पूर्व ही अब से
नाता तोड़ चुकी थी सबसे
नीरस, शुष्क खड़ी थी कब से,
काल-चक्र से लूटी
आज जर्जर तरु-शाखा टूटी

देखा था इसने भी सावन
उर का नवोन्मेष मनभावन
इसके ही अकुर से पावन
यह हरियाली फूटी
आज जर्जर तरु-शाखा टूटी

निज जीवन-रस देकर सारा
कलि-दल, फल-फूलों के द्वारा
यह जैसे गिरि से गिर धारा
भव-कारा से छूटी
आज जर्जर तरु-शाखा टूटी

[अपनी मातामही की मृत्यु पर सन् १९४१ में लिखित ।

अभी बज रहे थे, अब नीरव हैं वीणा के तार
किस रहस्य से आयी थी वह, गयी कहाँ झंकार ?

किन काले मेघों के दल में
अप्सरियों की चहल-पहल में
रहती थी वह, और यहाँ आ
चली गयी किस शून्य महल में
कंपित तारों पर पग रखती, सातों सागर पार
अभी बज रहे थे, अब नीरव हैं वीणा के तार

अभी जल रहा था दीपक, अब तम का पारावार
किस अतीत की ज्योति आ लगी थी तिरती इस पार

किस प्रकाश के तरल सिधु में
नक्षत्रों के विदु-विदु में
रहती थी वह, और यहाँ आ
चली गयी किस दूर इंदु में ?
कभी न फिरने को, सम्मुख पा नील गुफा का द्वार
अभी जल रहे थे दीपक, अब तम का पारावार

अभी यहाँ संसार बसा था, अब सूने घरबार
आयी थी वह मूर्ति कहाँ से ? गयी कहां बन क्षार ?
किस निद्रा के नील नगर में
सपनों के सतरंगे घर में
रहती थी वह, और यहाँ आ
समा गई किस भूमि-विवर में ?
जहाँ असूर्यम्पश्या छायाओं का है दरबार
कभी यहाँ संसार बसा था, अब सूने घरबार

◆

शकुन्तला के प्रति

मेरी चंद्र-विहीना यामिनी
जैसे बिना दिये के बाती, बिना मेघ के दामिनी
जैसे बिना नीर के सरिता, बिना कंत के कामिनी
त्यों शकुंतला बिना सृष्टि यह, अनभावत की भामिनी
कैसे भूलूं वह नन्हीं सी छवि प्रतिक्षण अनुगामिनी
आत्मा की आत्मा, प्राणों की प्राण, हृदय की स्वामिनी
मेरी चंद्र-विहीना यामिनी

तुम्हीं पवन में आज प्रवाहित मेरे रोम-रोम को छूती
बन की हरीतिमा में तुम हो, कोकिल तुम मधुऋतु की दूती
तुम सरि में पावस की धारा, हिम के बिंदु-बिंदु में तुम हो
नभ में, गिरि पर, किरण, कुसुम में, तारा, तरणि, इंदु में तुम हो
मेरी श्वास-श्वास में बहती रोम, रूप, रस, गंध, तुम्हारी
पंच तत्व मुझमें, तुम उनमें मधुर मुखाकृति लिये सिधारी
किसका शोक करूँ! गोचर रूपों में तुम ही मोहमयी हो
आत्मा चिर अद्वैत शक्ति, मेरी मुझमें हो लीन गयी हो

अपनी ३॥ वर्षों की अल्पवय पुत्री शकुंतला की मृत्यु पर सन् १९४८ में ये ६ गीत लिखे गये थे।

मेरा हृदय कुलिश-कठोर
मृत्तिका-घट-सा न फूटा टूटते ही डोर

वह चपलता, स्मित वदन का वह सरल उल्लास
वे सुधामय शब्द, जैसे स्वप्न का आभास

भूमि पर भी पग जिसे रखने न देता, हाय !
वही कोमल गात सिकता में दबाया जाय

भग्न सर-सा सांस मैं भरता रहूँ दिन-रात
तोड़कर ले जाय कोई प्राण का जलजात

वही भूमि, गगन, दिशायें, वही सब संसार
ज्योति-हंस उड़ा कहाँ जाने क्षितिज के पार ?

पहुँच सकता आज मैं भी उड़ उसी की ओर
मेरा हृदय कुलिश-कठोर

शकुंतला, चार दिनों की चाँदनी

तारक-ज्योतित-कुसुम-जड़ित-सी
उतरी नभ-तम-तरी-तड़ित-सी
मुग्ध प्रकृति, ममता-विजड़ित-सी
शत-शत भुज-सरियों ने चाही स्वर्गों की निधि बांधनी
शकुंतला, चार दिनों की चांदनी

वह मेरे उर तक आ ठहरी
सुनी देव-वशी-स्वर - लहरी
जब तक जगें दिशा के प्रहरी
तब तक रजत पंख फैला उड़ गयी दूर उन्मादिन
शकुंतला, चार दिनों की चांदनी

मैंने जग देखी न छाँह भी
रही खुली की खुली बाँह भी
सँग न दे सके चरण चाह भी
नहीं कन्व की, कालिदास की, मेरी वीणा-वादिनी
शकुंतला, चार दिनों की चांदनी

अंतर में तू आयो

मेरी वहिर्चेतना झूठी
मानी नहीं तनिक जब रूठी
घट-घट की यह दृष्टि अनूठी
मैंने निज में पायी
अंतर में तू आयी

वाह्यांतर प्रतिघात नहीं अब
कौन दिशावधि, ज्ञात नहीं अब
अश्रु-हास की बात नहीं अब
कुछ अपनी न परायी
अंतर में तू आयो

यह अकूल विक्षोभ-रहित है
नाम-रूप-हृत केवल चित् है
शुद्ध, पूर्णता में स्वस्थित है
पर्वत कहूँ कि राई !
अंतर में तू आयो ।

अब कैसा व्यवधान !
तुम हो जहाँ, वहाँ हूँ मैं भी, दोनों एक समान

तुम जड़ तो मैं भी जड़ता का हूँ विकार ही निष्फल
चेतन तुम तो मैं भी आत्मा की सत्ता ध्रुव, अविचल
तुम मुझमें, मैं तुम में, दोनों एक देह, मन, प्राण
अब कैसा व्यवधान !

श्वास-पथिक कर रहे पार यह जन्म-मरण की घाटी
थकित प्राण चल रहे तिमिर में लिये ज्ञान की लाठी
मैं हँस रहा देख कर अपना ज्ञान सदृश अज्ञान
अब कैसा व्यवधान !

कैसे नपे असीम गगन नन्हीं-नन्हीं पांखों से !
देखूं कैसे रूप तुम्हारा मिट्टी को आंखों से !
तुम अनंत को ज्योति और मैं उसका अटल प्रमाण
अब कैसा व्यवधान !

श्रद्धा-सुमन

हवा और पानी-सी धरती जन-जन में बंट जावे
महामंत्र लाये जीवन का संत बिनोवा भावे

सूरज-चांद जहां तक चमकें, दिशाकाश हैं मेरे
क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरण, चरण-दास हैं मेरे
मेरी आंखों में कुबेर की सब संपत्ति समायी
सब कुछ मेरे, पर जो मेरे, नहीं श्वास हैं मेरे
गिनती पूरी हुई, उड़ चले, कौन इन्हें समझावे !
हवा और पानी-सी धरती जन-जन में बंट जावे

किसने बांधा बेग पवन का ? किसने बांधा पानी ?
आसमान की नीली चादर, सबने सिर पर तानी
आसुमेरु सागर यह धरती, माता सी जो सोयी
दीवालों से बांध सकेगा इसे कौन अभिमानी ?
सबको धारण किये धरा जो कौन उसे धर पावे
हवा और पानी-सी धरती जन-जन में बंट जावे

आत्मा के हित लोक-विभव सब, मानव तुच्छ न कहना
जल के समतल-सा समाज को अविरल होगा रहना
धन का त्याग, शक्ति का करुणा, कर्म ज्ञान का गहना
धन्य हुआ जीवन में जिसने सरल भाव से पहना
लिये लुकाठी खड़ा कबीरा, घर फूँके सो आवे
हवा और पानी-सी धरती जन-जन में बँट जावे

मिट्टी धन है, मिट्टी जन है, मिट्टी चांदी-सोना
मिट्टी से हीरा-तन पाया, मिट्टी में है खोना
गयी न राम-कृष्ण के सँग भी यह मनस्विनी धरती
त्रिभुवन-विजयी रावण को भी पड़ा अंत में रोना
मुट्ठी भर मिट्टी की माया मन को क्यों भरमावे ?
हवा और पानी-सी धरती जन-जन में बँट जावे

जिसकी वस्तु उसी के आगे संगीनों का पहरा !
किसका यह अधिकार कि जिस पर राज्य-तंत्र है ठहरा !
यह भादों की नदी सूप से रोक सका है कोई ?
भूमि-रहित भूखे मनुजों का सिंधु रहा जो लहरा
पल में ढा देगा साम्राज्यों के फौलादी दावे
हवा और पानी-सी धरती जन-जन में बँट जावे

निर्मल हो लो, उज्ज्वल हो लो, करुणा की धारा में
सीता-सी आत्मा बंदी क्यों कंचन की कारा में
मानवता का महापर्व यह सर्व-त्याग की वेला
वामन आ पहुँचा है फिर से बलि के भंडारा में
कभी-कभी होता है ऐसा-दाता हाथ बिछावे
हवा और पानी-सी धरती जन-जन में बंट जावे,
महामंत्र लाये जीवन का संत बिनोवा भावे

●

आज अणु-अणु सौभाग्य भरा
करुणा की बूँदों से धुलकर पावन वसुंधरा

घर-घर में सुख-शांति-संपदा
गातीं दिग्वधुयें प्रियंबदा
स्नेह-वृष्टि कर रही शारदा
कनक-प्रसून-करा
ज्योति-अमृत की वर्षा होती
हृदय-सीप में फूटे मोती
कुंज-कुंज में जीवन बोती
प्राण-पिकी मुखरा

देवों ने भी हाथ बिछाया
चरण-परस को अंबर आया
दूर-दूर भू का लहराया
अंचल हरा-हरा
कर्ममयी निष्काम-किरण वर
अमर बन रहे क्षण-क्षण नश्वर
कास-कुसुम-सा दूब-दूब पर
रजत-हास बिखरा

गलकर बीज विटप है बनता
झरता फूल, सफल निर्जनता
कोटि प्रदीपमुखी चेतनता
दीपशिखा अजरा

●

सत्य-अहिंसा शस्त्र न छूटे सत्याग्रह-संग्रामी से
आज गरीबी से लड़ना है जैसे लड़े गुलामी से

मुक्त प्रकाश, पवन-सी धरती, सबकी भूख मिटाने को
माता की गोदी में बालक तरसे दाने-दाने को
मधु का पारावार, न मिलता कण भर प्यास बुझाने को
घेर दिया किसने जीवन के अमरित भरे खजाने को
चरण-चरण पर चांप धरा को कौन खड़े ये स्वामी-से !
आज इन्हीं से लड़ना होगा जैसे लड़े गुलामी से

प्यास नहीं ओठो पर, जल की भरी नदी भी दी उसने
जीवन का साधन दे पहले, कहा बाद में, 'जी' उसने
सबका सम अधिकार पवन पर, आतप पर, जलधारा पर
एक व्यक्ति के जीने को तो धरती नहीं रची उसने
लघु तृण भी न अछूता जिसकी करुणा कण-कण-गामी से
आज गरीबी से लड़ना है जैसे लड़े गुलामी से

एक उदर, मुख एक सभी को, जीवन-साधन एक रहे
दशमुख, बीस-भुजा क्यों कोई जग में बिना विवेक रहे !
पंडित, मूढ़, धनी या निर्धन, सुत समान सब माता के
सबके लिये खुले धरती के पावन मंगल-लेख रहे
आत्म-तत्व तो एक सभी में भिन्न देह गुण-ग्रामी से
सत्य अहिंसा शस्त्र न छूटे सत्याग्रह-संग्रामी से

आज नये वलिदान माँगता नव युग पाँखे खोल रहा
बापू की वाणी में फिर से संत विनोबा बोल रहा
जन-जन के अंतर को छूता साम्य-समीरण डोल रहा
मनुज-हृदय के जुड़ जाते ही एक निखिल भूगोल रहा
बदल रही धारा जीवन की शांति क्रांति-परिणामी से
सत्य-अहिंसा शस्त्र न छूटे सत्याग्रह-संग्रामी से

प्रेम-शांति की बीण बजाता, झोली ले सद्-भावों की
नयी सभ्यता रचने निकला जो निःशोषक गाँवों की
सत्य-अहिंसा पर आधारित न्यायपूर्ण श्रम का बल ले
स्वर्गों से भी बड़ी बनादी जिसने मिट्टी पाँवों को
जग, प्रकाश की भीख माँगता ऐसे भिक्षु अकामी से
आज गरीबी से लड़ना है जैसे लड़े गुलामी से

*

अंबर तक जय-घोष छा रहा पावन पूजन-वेला है
आज धरा-माँ के मंदिर में भू-पुत्रों का मेला है

अँगड़ाई ले जाग रहे हैं युग-युग से सोने वाले
मिले परस्पर बाँह बिछा, पानेवाले, खोनेवाले
देख रहे आँखें फैलाये सब जादू-टोनेवाले
प्रेम-डोर में बँध आये जो एक न थे होने वाले
किस धुनवाले ने छेड़ा यह राग नया अलबेला है
आज धरा-माँ के मंदिर में भू-पुत्रों का मेला है

कितने यहां जलन ले आये विष की कर बौछार चले
कितने धन, दारा, परिजन में अपना तन-मन वार चले
आये कितने वीर, धरा का कर पल भर शृंगार चले
कितने ऐसे चले अमृतमय, औरों को भी तार चले
धन्य उन्हीं का जीवन जिनसे जग में हुआ उजेला है
आज धरा-माँ के मंदिर में भू-पुत्रों का मेला है

रवि न डूबते जहाँ कभी, उन साम्राज्यों की नाक कहाँ !
काल-पुरुष से लोहा ले जो, वे गांडीव, पिनाक कहाँ !
धन-धरती तो उसकी जिसने इनको हँस-हँस छोड़ दिया
पानी जो दोनों बाँहों में रक्खे बाँध, तिराक कहाँ !
त्याग-मंत्र सिखलाया जिसने, विश्व उसी का चेला है
आज धरा-माँ के मंदिर में भू-पुत्रों का मेला है

गाँव-गाँव में गाता कोई बापू का संदेश चला
छ्यासठ कोटि पगों से उठकर, यह लो, सारा देश चला
कोटि-कोटि हलधर के जोड़े चले नील घन-माला संग
भूमि चली, नभ चला, चराचर चले, स्वयं सर्वेश चला
सत्य-अहिंसा-साधक जग में, किसने कहा, 'अकेला है' !
आज धरा-माँ के मंदिर में भू-पुत्रों का मेला है

मुंड-मालिनी का वह रुचता, वेश न आज भवानी का
मातृ-रूप पालन करती जो, पूजन उस कल्याणी का
कनक-शस्य-कर-धृत, गैरिक-पट, घर-घर की पार्वती उदार
जल में भी रह, कोई प्यासा मरा करे क्यों पानी का !
अब न चलेगा, भूखों से जो खेल आज तक खेला है
आज धरा-माँ के मंदिर में भू-पुत्रों का मेला है

*

सबल की न धनवान की
धरती है भगवान की

जैसे मुक्त समीर है
ज्यों सरिता का नीर है
आतप और प्रकाश है
जैसे नीलाकाश है
वैसे ही हर प्राण की
सबल की धनवान की
धरती है भगवान की
सबको जीवन प्रेय है
सुख सबका अभिप्रेय है
त्यागी जन ही गेय है
बलिदानी को श्रेय है
जैसे राघव-जानकी
सबल की न धनवान की
धरती है भगवान की

दोनों भुजा पसार लो
बहता बंधु उबार लो
तरो, अन्य को तार लो
करुणा की झंकार लो
सृष्टि बने मुस्कान की
सबल की न धनवान की
धरती है भगवान की

कहाँ द्वैत, दुख, द्वंद है
सकल अमृतमय छंद है
बाधा कही न बंध है
आत्मिक ज्योति अमंद है
माया तो अज्ञान की
सबल की न धनवान की
धरती है भगवान की

यही सत्य का मूल है
भव - सागर का कूल है
प्रेम यही तो फूल है
सृष्टि अन्यथा धूल है
प्रतिमा ज्यों पाषाण की
सबल की न धनवान की
धरती है भगवान की

गिरता जीवन मोड़ लो
उच्च गगन से होड़ लो
नभ के तारे तोड़ लो
मन को मन से जोड़ लो
गाँठ कटे अभिमान की
सबल को न धनवान को
धरती है भगवान की

तुम अनादि के छंद हो
लघु हो, जब तक बंद हो
महाकाश निर्द्वंद हो
शुद्ध सच्चिदानंद हो
तुम प्रतिमा भगवान की
सबल की न धनवान की
धरती है भगवान की

फूल, बिखरने के लिये
ज्ञान, सँवरने के लिये
रूप, न डरने के लिये
जीवन, मरने के लिये
भीति हरो म्रियमाण की
सबल की न धनवान की
धरती है भगवान की

धरती कितनी चाहिये ?
जिसको जितनी चाहिये
दो डग, इतनी चाहिये
तृष्णा रितनी चाहिये

तृष्णा बेपरिमाण को
सबल को न धनवान को
धरती है भगवान की

कंठ सूखते प्यास से
अमृत झरे आकाश से
आशा औ विश्वास से
दिया जला लो साँस से

नई फसल हो धान की
सबल की न धनवान की
धरती है भगवान की

●

पानी बरस कर खुल गया
जैसे हृदय हो घुल गया

ज्योंही उठी काली घटा
मन का अँधेरा-सा कटा
बिजली चमकने लग गयी
सोयी उमंगें जग गयीं
आये झकोरे वायु के
लघु विटप कच्ची आयु के
डर, थरथराते-से झुके
फिर वायु झोंके भी रुके
बूंदें बडी जामुन-सदृश
टप-टप गिरीं भू पर विहँस
कुछ खेत पर, खलिहान पर
कुछ गिरीं सूखे धान पर
कुछ सिंधु पर, कुछ सीप में
कुछ शैल पर, कुछ द्वीप में
कुछ गोद में बन के गिरीं
कुछ ढूंढ़ती आश्रय फिरीं

तालाब में मेंढक बनीं
बन चील चिड़ियों पर तनीं

गिरकर कली के वक्ष पर
पल में गयीं शतशः बिखर
कुछ ओठ पर, कुछ गात पर
कुछ डाल पर, कुछ पात पर
चुंबन - सदृश लहरा गयीं
आमूल तन सिहरा गयीं
सब दृश्य हो मंजुल गया
पानी बरसकर खुल गया

जागे सरित सोये हुये
गिरि - प्रात में खोये हुये
मृगशावको - से दौड़ कर
विद्युत-विशिष-से होड़ कर
उठ कर कमल-से कीच से
निकले विटप के बीच से
पगडंडियों को पार कर
पहुँचे नदी के द्वार पर
नदियां चलीं झुक-झूमती
तट को लिपटकर चूमती
नख-शिख जवानी से मढ़ी
तरु-फुनगियों तक जा चढ़ीं
धारा कभी रुकती नहीं
चट्टान भी झुकती नहीं

प्रण किंतु दोनों के चुके
नदियाँ रुकीं, पर्वत झुके
बल आँसुओं में ढुल गया
पानी बरस कर खुल गया
कोसों सजल घन क्यारियाँ
डूबी पथों की आरियाँ
धोये, हरे, चिकने, नये
पत्ते चमकने लग गये
दूबें लहर-हिंडोल - सी
ज्यों कंचुकी भू ने कसी
उठ-उठ गिरीं हर सांस में
बल खा गयीं भुजपाश में
लंबी, लचीली डालियाँ
जैसे हवा की सालियाँ

सलवार धानी रंग का
यौवन छलकता अंग का
पहली मिलन की रात की
बहनें चपल बरसात की

वह खिलखिलायी, वह झुकी
वह गोद में सहमी, रुकी
वह जो अभी बच्ची रही
कोंपल लिये, कच्ची रही

कुछ दूर ही रहकर खड़ी
सकुची, बिछा आँखें बड़ी
तन में फुरहरी आ गयी
गदरा गयी, छितरा गयी

यौवन कनक - सा तुल गया
पानी बरसकर खुल गया

'पी-पी' पपीहे ने कहा
'बादल कहाँ बिछुड़ा रहा !
किस सिंधु के किस कूल पर !
किन बिजलियों के फूल पर !
गिरि-गह्वरों के कोट में !
हिमघाटियों की ओट में !
कज्जल निशा-संदर्भ में !
निर्ज्योति सागर - गर्भ में !
सुनसान रेगिस्तान में !
या पास के खलिहान में !
जनमा कहाँ ? बिकसा कहाँ ?
लायी ललक किसकी यहाँ !'
'पी-पी' पपीहा बोलता !
अंतर जलद का डोलता
'मैं पी नहीं तो कौन है ?
धरती - गगन सब मौन हैं

मैं जलधि से उठ आ गया
जलते जगत पर छा गया
चपला वधू की बाँह में
नभतारकों की छाँह में
सुख मिल सका आकाश में !
मेरी प्रिया तो पास में
अनिमिष, अधीर, उदासिनी
एकांत वन-पथ-वासिनी
सर्वांग हरियाली मढ़ी
जिसके नयन सावन-झड़ी
शत-बाहु उसके पास मैं
सोऊँ सलोनी साँस में'

मन मोम जैसा घुल गया
पानी बरसकर खुल गया

पहिरोपना करने चली
यह कौन पंकज की कली
गोरी, गुलाबी पिंडलियाँ
जल में धँसी ज्यों बिजलियाँ
तन पर सुपुष्ट उभार है
उड़ता वसन हर बार है
झुककर खड़ी बौछार में
तिरछी लता-सी धार में

ठहरी हुई क्या सोच है !
कटि में कमल-सा लोच है
वह टूटनेवाली नहीं
नागिन, भले काली नहीं
स्वर बीण की झंकार-सा
स्वर सिसकियों के तार-सा
स्वर गूँजता हर ओर है
जैसे पपीहा-मोर है
अंचल हवा में उड़ रहा
बंधन हृदय का तुड़ रहा
पहले गिरे कुछ स्वेद-कण
फिर अश्रु बन बरसे नयन
'तन भींगता, मन भींगता
चुपचाप यौवन भींगता
रीते पहर क्यों रात के !
ऐसी भरी बरसात के
साजन गये किस ओर हैं !
बादल मचाते शोर हैं'
काजल नयन का धुल गया
पानी बरसकर खुल गया

मैं घूमने निकला अभी
है रंग भी बदले सभी

रति-श्रांत बल्लरिवां खड़ीं
अलसित, हँसित, आंखें बड़ी
बिखरी लटं, बांहें शिथिल
उच्छ्वास सौरभ-मय अनिल
फिरती फुदकती टिटहरी
मैना, मयूरी, गिलहरी
टुट-टुट कहीं, टी-टी कहीं
पी-हू कहीं, पी-पी कहीं
ढोलक कहीं, बाजे कहीं
झूले कहीं, झांझें कहीं
कजरी कहीं, दंगल कहीं
बिजली कहीं, बादल कहीं
सब दूसरा ही दृष्य है
खुलता नवीन रहस्य है
उन्नत उरोजो - से कढ़े
गिरिश्रृंग हरियाली मढ़े
झरने कि मौक्तिक-हार हैं
अलकें गगन की धार हैं
घन-पुतलियों पर सतरँगा
नव इंद्र-धनु - सा जो टँगा
भ्रू-चाप हो वर्तुल गया
पानी बरसकर खुल गया

*

परशुराम का पश्चाताप

(परशुराम ने पिता के आदेश पर अपनी माँ रेणुका का मस्तक कुठार से छिन्न कर दिया था।)

फैला के समुद्र के सुनील पंख अंबर में
उड़ती न भूमि क्यों सत्रस्त सांध्य खग-सी
चंद्र तारकों के पार? क्षुद्र ज्योति-पुंज यह
डोलता प्रभात से विवर्ण साँझ तक जो
स्वर्ण-श्रृंग, दीप्त मेरुओं पर, पक्व फल-सा
टूटे गिरता न क्यों अनंत महाशून्य में?
हाय, यह यंत्रणा से जलता हृदय क्यों न
फूटके बिखरता धरा पर धूमकेतु-सा?
मैं न हूँ पाषाण, मृत्तिका हूँ मैं न ठूँठ जड़
दग्ध मरुभूमि का, कठोर मातृघात का
महा विष-पीकर भी मौन रहूँ हँसता।
गलित प्रतप्त लौह में समुद कूदता मैं
सीधा दौड़ जाता तीक्ष्ण धारा पर कृपाण की

निःशब्द, मत्त गजराज के चरण-तले
रौंद दिया जाता तुच्छ वनज कुसुम-सा
किंतु यह वेदना असह्य है हृदय की।
पिता का प्रबोध, कर्तव्य-गर्व, न्याय-बल
देते न सहारा, इस घोर मनस्ताप में
देखता हूँ आप अपना मैं किया पाप-कर्म
जैसे देखता हो कोई सागर किनारे खड़ा
क्षीण प्रतिबिंब निज लहरों में मिटता;
और वह क्षण हाय! स्मृति में खिंचा है अभी
प्यार भरी दृष्टि वह स्नेह का उलाहना
झुक वीर पुत्र की बलायें लेना मोद से,
माता का सहज निःस्वार्थ वह प्रेम हाय!
मुझको मिलेगा कहाँ सारी इस सृष्टि में।
भौंह चढ़ी देख जब मृग-तुल्य काँपती थी
भीत जन्मदायिनी, हृदय खंड-खंड हो
टूट कर गिरा न क्यों उसी क्षण चरण में
धूल जिन चरणों की स्वर्ग-सी पवित्र थी
स्पर्श जिनका था हिम-शीतल सुधांशु-सा,
कटके शरीर से कुठाधारिणी क्यों बाँह
लिपट गयी न उस क्षीण, वृद्ध ग्रीवा से
'माँ, 'माँ', कहती हुई गहन पश्चाताप में!
और वह स्मिति अंतकाल की, रहेगी याद
अंतकाल तक मुझे, घृणा और प्रेम का

जिसमें भरा था द्वंद्व, आत्म-बलिदान का
जिसने सहा था क्रूर परिहास, भाग्य की
वक्रता भुला दी जिसने थी हंस-हँस के।
रक्षक शरीर के, उसे ही चोर डालें हाथ!
नेत्र पथदर्शक गिरा दें अंधकूप में!
जननी बनी थी तुम प्रस्तर की प्रतिमा-सी
पुत्र के ही कर का कुठार देख शीश पर,
पुत्र वह जिससे हुई थी पुत्रशीला तुम
पुत्र वह प्राण का सदा से जो सहारा था।
आह, क्रूर पिता! यही धर्म था तुम्हारा श्रेष्ठ
तप था महान, यही सिद्धि, यही ज्ञान था?
सहधर्मिणी जो सदा सेवा-रत मूक रही
निःशब्द छाया-सी, अशब्द उसे करके
कौन सा अलभ्य रत्न प्राप्त तुम्हें हो गया?
याद आता मंजुल प्रभात वह एक दिन
हृदय उमड़ जब कंठ में था आ गया
बोल उठा था मैं पूजा-रत उसे देखकर
'अंबे! यों ही होता है प्रभात नित्य धरती पर
मानवों के मन में परंतु अंधकार है
सूचि-भेद्य, सूझता न अपना-पराया भी
इस घोर तम में, किरण एक आशा की
फूटती उदय-गिरि-शृंग से न ऐसी जो

भाले-सो महान अंधकार यह भेद दे;
बाहुओं में शक्ति लिये देखता विवश-सा मैं
कीट-तुल्य रेंगती रसा पर देव-जाति को
अपनी चिता की ओर; अमृत-संतान, हाय !
जल-बुदबुदों से मिटे ही चले जा रहे
असमर्थ सहने में इंगित भी भाग्य का,
पशुता का शासन है, न्याय बंधा सींकचों में
मानवों से होकर निर्वासित मनुष्यता
डोलती है हिंस्र पशुओं के बीच वन में,
स्वार्थ का ही मंत्र जपते हैं सभी नारी-नर
वेद-मंत्र-तुल्य, हुई अंधी सब सृष्टि है।
आँखें भर आयीं उसकी थीं करुणा से, हाय !
बोली, 'वत्स, यह पददलित संसार है
दुख से विकल, आर्त तुमको पुकारता,
देखता तुम्हारी ओर मेरे ही हृदय-तुल्य
हृदय वसुंधरा का, ममता से आर्द्र हो;
मुक्ति-दूत वत्स तुम, होगी सुखमय सृष्टि
छाया में कुठार के तुम्हारे, मातृ-दुग्ध की
लाज रखनी है तुम्हें तोड़ इस पाप को।
गर्भ में थे जब तुम हरित धरा से नित्य
आती थी पुकार कहाँ रेणुका का पुत्र है
पापियों का बोझ जो उतार देता छाती से !
सागर पुकारता था लहरों में बार-बार

'कहाँ रेणु-पुत्र ! हाय, कौन शांति दे मुझे !
आते थे हिमाद्रि की गहन घाटियों से शब्द
उत्तरी पवन पर, 'कहाँ है सुत रेणु का ?'
भीत, पुलकित-सी मैं सुनती थी शब्द वे।
यौवन के स्वप्न मिटते हैं शीघ्र कैसे हाय !
कौन जान सकता है भाग्य की विडंबना ?
आह दीन नारी ! भावनाओं का तुम्हारा पुष्प
काल के चरण से बना था ध्वस्त होने को !
पति जिसे देव-तुल्य पूजती सदा थी तुम
फेंक देता जीर्ण पादुका-सा तुम्हें क्षण में !
पुत्र जिसे यौवन के बीतते शुरू के दिन
काटी थी कलेजे से लगा के क्रूर यामिनी
पति की प्रताड़ना की, पुत्र वही क्षण में
करने को था यों विद्रोह स्वीय रक्त से ?
दोष किसको दूँ अपने को मैं कि भाग्य को
रुद्ध कर देता मानवों का आत्म-ज्ञान जो
सौंपता है अन्य ही करों में कार्य अन्य का।
आह ! वह क्रांति-स्वप्न, सत्य यह जीवन का
हँसता है मानों इतिहास मुझे देखकर
घृणा और व्यंग भरा मातृघाती नाम दे।
रौंद, चीरती है अपनी ही आत्मा को हाय
आत्मा की शक्ति, दृष्टि अपने को खा रही।

जहाँ भी चरण रखता हूँ एक छाया-तुल्य
दीखती है सित-केशा नारी, दृग जिसके
रोने से हुए हैं लाल किंतु मुख मौन है।
सागर के तीर, पर्वतों पर, वनघाटियों में
मृत्यु-सी डरावनी वही है मूर्ति माता की
नींद में भी देती न विराम पल भर जो।
सांध्य वारिदों में दिखता है उसका ही रूप
मध्य निशा में मैं सुनता हूँ चीख उसकी
आती भूमि-गर्भ से, दिखा के लाल-लाल आँख
तारे करते ज्यों उपहास क्रूर मेरा हैं।
दूर कहीं मरु के उजाड़ वन-प्रांतर में
गूंजता है स्वर एक खोये हुए शिशु का,
निज जननी के लिये रोता फूट-फूटकर जो
पेड़-पत्तियों से पता पूछता स्वगेह का,
मैं न शिशु, किंतु उससे भी आर्ततर हाय!
फिरता हूँ निज प्रेत-तुल्य भरे विश्व में
अपनी कथा ही प्रति आनन से सुनता,
पुर, ग्राम, वन, वीथि, हाट-बाट चारों ओर
व्यंगभरी लाल-लाल आँखें देखतीं मुझे
बनतीं अपर क्षण मूर्ति दयनीय जो
आँसुओं की युगल बहाती धारा करुणा-सी
झुर्रीदार गालों पर, विवर्ण सांध्य नभ से

मानों टूटती हों युग तारिकायें शून्य में।
रात-दिन फिरता मैं भ्रमित निरुद्देश्य
धूमकेतु-तुल्य चारों ओर भग्न विश्व की
गहन निराशा-रजनी में जलता हुआ,
मिलती न शांति एक क्षण के लिये मुझे
छाया से मेरी भागते हैं दूर शिशु-वृंद
हाथ उठा वृद्धायें प्रशप्त करतीं मुझे,
युवकों में कोढ़-सा मैं घृणित, अछूत हूँ
था जो शिरमौर कभी जनता के भाग्य का
दीन-दुर्बलों का बल, अंकुश था विश्व के
कुटिल, कठोर, अत्याचारी नृपपुंज का,
भाग्य की विडंबना कठोर है! कठोर है!
हाय ! अनुभवहीन बुद्धि की प्रवंचना
कितनी भयावनी है, हाय रे मनुष्य ! तू
कितना अबल है परंतु ज्ञान-गर्व में
कितना सबल अपने को मूढ़! मानता।
बीता जो समय आह! लौट आता एक बार
देता मैं समस्त आयु एक क्षण के लिये
काटकर जब अपना ही शीश जननी के
पाद-पद्मों पर डाल देता जवा-पुष्प-सा
प्रायश्चित करने को निज महापाप का
और उन आँसुओं की क्षीण सरिता में हाय!
अर्घ्य निज रक्त का मिलाता पूत होने को,

किंवा शुष्क पत्र-सी प्रकंपित हथेली बीच
देकर कुठार कहता कि जन्म के समय
घोट दिया था न क्यों गला ही इस पापी का
देखना न पड़ता तुम्हें यह कुदिन जो;
छिन्न करो ग्रीवा यह ग्लानि से झुकी जो, मात !
आज उसी भूल का निवारण हो पल में,
जीवन दिया था जिसे मृत्यु दो स्वकर से।
मृत्यु, जड़ता या शांति, औषधि है एक वही
मुझसे अभागे परिवारघाती जन की
विश्व जिसके लिये विषम कारागार है।
दानवी-सी व्योम-पट पर दौड़ती हुई
मेघपंखी आंधियो ! उठाके मुझे फूल-सा
दूर कहीं फेंक दो धरा के उस कूल पर,
वक्र यम-भौंह-से कराल व्योम-धनु से
छूट ओ री मनोवेगद्राविनी बिजलियो !
लक्ष्य मुझे साथ लिये भूमि का हृदय चीर
फोड़ती तलातल-वितल धँसो तीर-सी
घोर अंधकार भरे शून्य नर्क-द्वार में
जहाँ रहते हैं मुझसे हो महापापी जन
सिंधु-तल-वासी- कीट-तुल्य रेंगते हुए।
चाहता है वंश ही समूल होना नष्ट आज
जननी ! तुम्हारे घोर शाप से मनुष्य का,

जीवन निरर्थक-सा शुन्य लगता है मुझे
लौकिक नियम मानो गुड़ियों के खेल हैं
विधि ने रचाये, जन्म, मरण, विवाह आदि
जड़ नियमों-से बंधे होते चले जा रहे,
सत्य मुझे जीवन का इनमें न सूझता।

यश से मिला क्या फल ? अर्थ-काम से भी हाय !
क्षणिक सुखों के सिवा लाभ हुआ कौन-सा ?
और फिर सुख से भी लाभ क्या है ? पंगु जो
जीवन की गति में सहस्रों विघ्न डालता,
किंतु गति में हो क्या धरा है, मृगतृष्णा-सी
लिये फिरती जो भटकाती विश्व भर में
शैशव से लेकर अनंत मृत्यु-द्वार तक,
दुख में भी दुख क्या जो दूर भागता है मन,
मन भी तो एक सुख-वृत्ति-युक्त पशु है,
व्यर्थ आशा इससे उचित-अनुचित के
समुचित न्याय की, भरोसा कौन बुद्धि का
आँख मूँदें चलती जो भावना के लोक में
अंतहीन तर्क लिये दीपक-सा हाथ में ?
सत्य एक मात्र यह घोर आत्म-वेदना
सत्य एक मात्र हाय ! माता का मरण है
मेरे ही कुठार से, कठोर, घोर सत्य है
एक मात्र वर्तमान मानव-हृदय का,

भूत औ भविष्य काल्पनिक रूपकों से रचे
बर्तमान से हैं दूर भागने के द्वार दो,
भागने के द्वार? हाय भागूं मैं परंतु कहाँ
अर्थहीन, शून्य, दग्ध, मरु-तुल्य विश्व से
स्थान नहीं इनमें भी मुझसे अभागे का
नर्क भी घृणा से मुझे देख दृग मींचता,
जाऊँ कहाँ बाज-तुल्य उड़कर इस धरती से?
ले जा यह जलन बुझाऊँ किस सिंधु में?
सौंप दूँ किसे मैं क्रूर चेतना हृदय की?

*

स्मृति की रेखायें

गीत में भर दो मेरा जीवन

शत-शताब्दियों तक मेरे स्वर
मुख-मुख से परिवर्तित होकर
यात्रा करें देश-देशांतर
युग-युग यह छवि मेरी खिलती रहे मधुर कविता बन
गीत में भर दो मेरा जीवन

मध्य निशा में तिमिर पार कर
पहुँच ज्योति के स्वर्ण द्वार पर
लाऊँ प्रतिभा-घट उतार कर
समझ न कोई सके कहाँ से आती कविता छन-छन
गीत में भर दो मेरा जीवन

जग मेरी साधना न जाने
पास खड़े न मुझे पहिचाने
बस मेरी कृतियों को माने
आदर-श्रद्धा का अधिकारी मनुज नहीं दुर्बल-मन
गीत में भर दो मेरा जीवन

*

प्रेम की इस मोहक नगरी में
चढ़ा एक दिन आया था मैं अपनी स्वर्ण तरी में
नखत म्लान थे खिँची सुनहरी आभा थी लहरी में
चिह्न उषा के प्रकट हो रहे थे कुछ विभावरी में
सम्मुख तट पर जल भरती थी झुकी हुई गगरी में
बाला एक, न था कुछ अंतर उसमें और परी में
हाथ पकड़ वह मुझे ले गई नभ की बराबरी में
उठते पुर-भवनों से होती गिरि की शून्य दरी में
सुनता वहाँ प्रणय-गायन जब अलसित दोपहरी में
जागा मैं, थे मधुप उड़ रहे घाटी हरी-हरी में
कलियाँ मृत सोयी थीं भू पर, ज्यों निद्रा गहरी में
पर वह कहाँ ? बँधा था मैं जिसकी सर्पिल कवरी में
प्रेम की इस मोहक नगरी में
चढ़ा एक दिन आया था मैं अपनी स्वर्ण तरी में

*

मैं न रहूँगा, यहाँ न होगी मेरी कहीं निशानी ही
कहने-सुनने को रह जायेगी बस एक कहानी ही

बीत रहे दिन, पक्ष, मास, जीवन-वसंत हो शेष चला
आता है पतझड़ उपवन में, पंछी अपने देश चला

यह चंचल नगरी अंचल-सी, क्रीड़ा, कौतुक हास्य यहाँ
क्वणित भवन, छवि-चित्रित गलियाँ, यौवन एक उपास्य यहाँ

याद मुझे है जब कोई इसमें सहमी-सी पैठी थी
और सकुचती हुई स्वर्ण-सिंहासन पर आ बैठी थी

वह इस नगरी की रानी थी, तब मैं भी तो आया था
मंद-मंद हँस सखियों ने आपस में भेद छिपाया था

कितनों को स्मिति में बँध मैंने पास खिंचे आते देख
खींच चला कितने हृदयों पर अपने परिचय की रेख

वह यौवन का उषा काल था, पाने का, खो जाने का
बीत गया जो समय सुनहला, नहीं लौट कर आने का

घायल मन, दुर्बल शरीर, आत्मा में क्रंदन-गीत लिय
चला आज मैं नयनो में धुंधला सा स्वर्ण-अतीत लि

पश्चिम क्षितिज पार से कोई मुझको आज रहा है खींच
आगे है जलता मरुपथ, अब जाना होगा जिसके बीच
गहरी नीलम की घाटी फिर संध्या-रंगों में डूबी
चलती जिस पर धूमिल यात्री-पंक्ति दिवस-श्रम से ऊबी
उसके पार एक काला सागर है बिना तरंगों का
जिसमें वृहत् जहाज खड़ा है इंद्रधनुष के रंगों का
फेन उगलता ले जायेगा वह परियों के द्वीप मुझे
जो हँसकर कुम्हला जायेंगी, आते देख समीप मुझे
मलयज नीरव साँस भरेगी सूने महल-झरोखों में
काँप उठेंगे मकड़ी के जाले, गुंबज की नोकों में

*

गाता था कोई विरही वन-वन यों,
'बाँध अलक की काली जंजीरों से
एक पथिक-बाला ने मेरे मन को,
बेध दिया निज चितवन के तीरों से

घायल कर वह चपल मुझे निर्दय-सी
हँसती-सी भी द्रुतपद चली सभय-सी
कौतुकमय, भोलेपन के अभिनय-सी
फैलाती-सी हिम-अपांग निःस्वन, ज्यों
प्रभा-सरित फूटी हो दो हीरों से,
गाता था कोई विरही वन-वन यों
'बाँध अलक की काली जंजीरों से

अरुण कपोल, हिमोज्ज्वल ग्रीवा मोड़े
तिरछी झुक वह, खेत पार कर चौड़े
ओझल हुई, चरण ज्यों मृग के जोड़े
छिपे कुंज में, करते मुझ निर्धन को,
बंदी पर्वत को प्राचीरों से
गाता था कोई विरही वन-वन यों,
'बांध अलक की काली जंजीरों से

वह प्रभात, अब संध्या ठंडी भूरी
सन्नाटे में चित्र भरी यह दूरी
सचमुच जादूगरनी थी वह पूरी
ढूंढी विफल गयी थी छाया-तन जो,
अति प्राचीन युगों के वीरों से

गाता था कोई विरही वन-वन यों,
'बाँध अलक की काली जंजीरों से
एक पथिक-बाला ने मेरे मन को
बेध दिया निज चितवन के तीरों से'

*

जल-समाधि

लहरों के तल में शिशु-सहचरि मेरी
डूब गई धीरे, धीरे, धीरे
पागल-सा बेसुध देता मैं फेरी,
क्रूर, कुटिल संसृति-सागर-तीरे
मेघ-मलिन-नभ, मूक दिशा, स्थिर धरती
आत्मा मेरी जल के बीच उतरती
शून्य भवन में परियां क्रंदन करतीं
आंसू की बरसाकर मौक्तिक-ढेरी
नयन चमकते उनके ज्यों हीरे
लहरों के तल में शिशु-सहचरि मेरी,
डूब गई धीरे, धीरे, धीरे

मेरी प्रेयसि उनके बीच नहीं है
वह लहरों में आँखें मीच बही है
मुझको उसकी छाया खींच रही है
तट-तट फिरती जल-नागों से घेरी
सिंधु-सुता-सी जो बांहें चीरे
लहरों के तल में शिशु-सहचरि मेरी
डूब गई धीरे, धीरे, धीरे

देह न मिली, अदेह हुई वह क्षीणा
प्राप्त अलक ही मुझे हाथ की वीणा
विरह-विकल गूंजेगी तान नवीना
जिससे फटकर सिंधु-समाधि अंधेरी
सुला पास में लेगी मुझको भी रे
लहरों के तल में शिशु-सहचरि मेरी,
डूब गई धीरे, धीरे, धीरे

◆

तम से बँधा प्रकाश, मृत्यु से जीवन, जड़ता ने गति बाँधी
बँधा इस तरह मैं, भू-नभ के बीचोंबीच बँधे ज्यों आँधी
सरिता के दोनों कूलों पर मैंने नाव टिकानी चाही
दो दुनियाँ हैं मेरे दो हाथों में, दोनों आधी - आधी

अंधकार लहरों के तट पर, मैं प्रकाश में ढँका अके
मेरे चारों ओर लगा है चंचल छायाओं का मे
मैं इनका हो सका न, पर जिनका, वे मेरी हँसी उड़
देख दूर से छोड़ न पाते मुझे रत्नमय सागर-वे

मैंने कहा स्वप्न मिथ्या है और सत्य भी मुझे न भाया
मैं अंबर का हो न सका, धरती के हित हो गया पराया
मैख़्वारों, दुनियादारों, दोनों ने दूर हटाया मुझको
कहा एक ने ढोंगी, पागल समझ दूसरा कुछ मुस्काया

कहा जीवितों ने मृत मुझको, मृत्यु साँस से डरकर भ
काया लादे हुये प्रेत-सा फिरा चतुर्दिक मैं गृह-त्य
खड़ी दो युगों के संधिस्थल पर ज्यों किसी महाकवि की
मैं जागा तब दुनिया सोयी, मैं सोया तब दुनिया ज

*

कौन सी थी दृष्टि वह, देखा मुझे जिससे ?
प्राण ! तुमने फेर नीले नयन नर्गिस-से

लाज की, संकोच की, भय की,
सरलता की, शुभ्र परिचय की,
कुतूहल की, चपलता वय की,
रही मन की तृष्टि वह, किंवा भरी रिस से
कौन सी थी दृष्टि वह, देखा मुझे जिससे

अलसता की, रुप के बल की,
छिपी करुणा की, क्षणिक छल की,
छलकती मद की, हलाहल की,
विफल जल की वृष्टि वह, लौटी चतुर्दिश-से
कौन सी थी दृष्टि वह, देखा मुझे जिससे ?

मान की, मनुहार की, मनकी
व्यथा गोपन की, विवशपन की,
स्नेह के अथवा मधुर क्षण की
हँस पड़ी जब सृष्टि यह परिहास के मिस से
कौन सी थी दृष्टि वह, देखा मुझे जिससे

*

जब तुम मुझे देख लेती हो मैं सुंदर हो जाता हूँ

आकांक्षा, बढ़ समरांगण में, विजय-मुकुट रख लूँ निज सिर पर
सत्य करूँ जीवन के सपने, यश - वैभव - मेघों से घिरकर
अप्रतिहत आदर्श-शिखर पर, हारिल-सा बढ़ता ही जाऊँ
पर ढीला होता मन, ढीली चितवन जभी देखता फिरकर
जब तुम मुझे चूम लेती हो मैं कायर हो जाता हूँ

आकुलता, कटु जीवन-कारा तोड़ सुदूर उड़ूँ अंबर
पल भर भी न सहूँ असफलता के वृश्चिक-दंशन भू पर
मृग-तृष्णा की भागदौड़ में प्राण विकल होते रुकने क
कर उठता विद्रोह हृदय, पर हँस आदेश भरे मृदु स्वर
जब तुम मुझे बुला लेती हो, मैं पथ पर हो जाता

दुस्सहता, फिर भी न भाग्य की गति मुझको विस्मित कर पाती
सहते नित आघात नये, बन गयी कठोर वज्र-सी छाती
गोधूली-वेला में पर पूनो शशि-सी सिहनि आकर,
देख उदास, अशक्त, उपेक्षित, दृग से करुणा-सरि ढुलकाती
जब तुम मुझे उठा लेती हो, मैं कातर हो जाता हूँ

*

कौन सो थी दृष्टि वह, देखा मुझे जिससे ?
प्राण ! तुमने फेर नीले नयन नर्गिस-से

लाज की, संकोच की, भय की,
सरलता की, शुभ्र परिचय की,
कुतूहल की, चपलता वय की,
रही मन की तुष्टि वह, किंवा भरी रिस से
कौन सी थी दृष्टि वह, देखा मुझे जिससे

अलसता की, रुप के बल की,
छिपी करुणा की, क्षणिक छल की,
छलकती मद की, हलाहल की,
विफल जल की वृष्टि वह, लौटी चतुर्दिश-से
कौन सी थी दृष्टि वह, देखा मुझे जिससे ?

मान की, मनुहार की, मनकी
व्यथा गोपन की, विवशपन की,
स्नेह के अथवा मधुर क्षण की
हँस पड़ी जब सृष्टि यह परिहास के मिस से
कौन सी थी दृष्टि वह, देखा मुझे जिससे

*

जब तुम मुझे देख लेती हो मैं सुंदर हो जाता हूँ

आकांक्षा, बढ़ समरांगण में, विजय-मुकुट रख लूं निज सिर पर
सत्य करूँ जीवन के सपने, यश - वैभव - मेघों से घिरकर
अप्रतिहत आदर्श-शिखर पर, हारिल-सा बढ़ता ही जाऊँ
पर ढीला होता मन, ढीली चितवन जभी देखता फिरकर
जब तुम मुझे चूम लेती हो मैं कायर हो जाता हूँ

आकुलता, कटु जीवन-कारा तोड़ सुदूर उड़ूं अंबर में
पल भर भी न सहूँ असफलता के वृश्चिक-दंशन भू पर मैं
मृग-तृष्णा की भागदौड़ में प्राण विकल होते रुकने को
कर उठता विद्रोह हृदय, पर हँस आदेश भरे मृदु स्वर में
जब तुम मुझे बुला लेती हो, मैं पथ पर हो जाता हूँ

दुस्सहता, फिर भी न भाग्य की गति मुझको विस्मित कर पाती
सहते नित आघात नये, बन गयी कठोर वज्र-सी छाती
गोधूली-वेला में पर पूनो शशि-सी सिहनि आकर,
देख उदास, अशक्त, उपेक्षित, दृग से करुणा-सरि ढुलकाती
जब तुम मुझे उठा लेती हो, मैं कातर हो जाता हूँ

*

पढ़ मेरी कविता भर आये यदि उन श्याम दृगों में पानी
तो मैं समझूंगा कि लिखा जो मैंने अमर हो गया, रानी !

सांसों में कंपित दीपक की लौ-सी सोयी मौन कक्ष में
जगा गयी दुःस्वप्न-सदृश आ, मेरी स्मृति जब रुद्ध वक्ष में
यदि ये मेरे स्वर दे पाये उस क्षण के स्पंदन को वाणी
तो मैं समझूंगा कि लिखा जो मैंने अमर हो गया, रानी !

नहीं कल्पना भी परत्व की तुमसे मुझको सह्य अभी तक
बिछुड़ दृगों से ज्यों अंतर में हँसती ही रहती हो अपलक
यदि मेरे इन गीतों में तुमने अभेदता यह पहिचानी
तो मैं समझूंगा कि लिखा जो मैंने अमर हो गया, रानी !

प्रवहमान जीवन-सरिता में कहीं रिक्तता टिक न सकेगी
पर आत्मा अभाव को अपने सूने में पाकर बिलखेगी
कभी निठुरता पर अपनी यदि कसक उठे अंतर अभिमानी
तो मैं समझूंगा कि लिखा जो मैंने अमर हो गया, रानी !

*

मेरा अंत न होगा
पतझड़ के पत्तों से ओझल कभी वसंत न होगा

मेरे सिर पर तना हुआ है स्नेह-वितान किसी का
तिल भर ओट न होने देता मुझको ध्यान किसी का
उसकी कृपा-किरण से मेरा शून्य दिगंत न होगा
मेरा अंत न होगा

मैं तो धरती का अंकुर हूं, नया-नया फूटूंगा
रंग उषा के जावक का मैं, कभी नहीं छूटूंगा
मेरी नख-नखतावलि-अंकित गगन अनंत न होगा ?
मेरा अंत न होगा

मेरी आयु चुराकर क्षण-क्षण काल अमरता पाता
मर-मर कर जीता जाता मैं मिट-मिटकर मुस्काता
अमृत-मूल फल-फूल-विवर्जित मेरा वृंत न होगा
मेरा अंत न होगा

स्कैन्ड / Scann